आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय

डॉ. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

BVP – 1925

8/2/18

32/66

हि.ग्रं.अ. प्रभाग ग्रंथांक-255

आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय

लेखक

डॉ.हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

एम.ए., डी.फिल (दर्शन), एम.ए., पी-एच.डी. (समाज), एल-एल.बी.

पूर्व प्रोफेसर, समाजविज्ञान विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ–226001

दूरभाष – 0522–2614470, 2614471

प्रकाशक
डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1982
द्वितीय संस्करण : 1991
तृतीय संस्करण : 2005
चतुर्थ संस्करण : 2015

प्रकाशित प्रतियाँ : 500

ISBN : 978-93-82175-46-9

मूल्य : 90.00 (नब्बे रुपये मात्र)

मुद्रक :
प्रकाश पैकेजर्स,
257, गोलागंज,
लखनऊ

प्रकाशकीय

आज हम भले ही एक विकसित समाज की इकाई हों, यह प्रश्न अभी भी प्रासंगिक है कि आखिर समाज की आवश्यकता क्यों पड़ी होगी और क्यों हमारी निर्भरता उस पर बढ़ती गई। निश्चय ही पहला कारण रहा होगा सुरक्षा। एक समय था, जब मानव बेहतर सामुदायिक व्यवस्था और नियंत्रण के अभाव में भयग्रस्त रहता था। उसके चारों ओर हिंसा और मृत्यु नाचती रहती थी। मनुष्य का जीवन एकांकी, दुर्गम, घिनौना, पशुवत एवं एकाएक समाप्त हो जाने वाला था। यदि मनुष्य को उसकी इस दशा में छोड़ दिया गया होता तो सामाजिक व्यवस्था का जो रूप आज हमारे सामने है, उसका प्रादुर्भाव ही न हुआ होता।

डॉ. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव द्वारा प्रणीत पुस्तक 'आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धांत परिचय' विशेष रूप से पश्चिमी विचारकों की अवधारणाओं को समझने के लिए आज भी अत्यंत उपयोगी है। विद्वान लेखक प्रो. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव ने पुस्तक को 16 अध्यायों में विभक्त किया है, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं– समाजवैज्ञानिक सिद्धांत, प्रकार्यात्मक विश्लेषण, टालकट पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत, राबर्ट मर्टनः मध्य सीमावर्ती सिद्धांत, मार्क्स, ज़िम्मेल, डेहरन्डार्फ और कोजर के सामाजिक सिद्धांत, प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद, लोकविधि विज्ञान और लेवीस्ट्रास का संरचनावाद आदि।

इस उपयोगी पुस्तक 'आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धांत परिचय' के तीन संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत इस विशिष्ट प्रस्तुति का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित कर हम गौरवान्वित हैं। विश्वास है कि समाज विज्ञान का अध्ययन करने वाले शोधार्थी और जागरूक पाठक इस ग्रन्थ में प्रस्तुत उपयोगी सामग्री से निरंतर लाभान्वित होंगे।

डॉ. सुधाकर अदीब

निदेशक

निवेदन

हमारे देश में सामाजिक व्यवस्था की परम्परा ज्ञात रूप में मनु से मानी जाती है। प्लेटो ने सामाजिक व्यवस्था की नींव गुणों पर तो अरस्तू और कौटिल्य ने विधि पर आधारित बतायी। 17वीं शताब्दी में जब दार्शनिकों ने सामाजिक व्यवस्था में सुधार पर बल दिया तो प्रसिद्ध दार्शनिक टामस हॉब्स ने कहा था कि यदि मनुष्य को निरंकुश छोड़ दिया गया तो वह स्वार्थ, शक्ति और लाभ के पीछे स्वयं को खत्म कर लेगा।

प्रसन्नता की बात है कि समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त आज विद्यार्थियों को एक विषय के रूप में पढ़ाये जा रहे हैं। समाज विज्ञान का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के लिए विभिन्न विचारकों के विचारों को जानने और समझने की आवश्यकता होती है। इस दिशा में सुप्रसिद्ध समाज विज्ञानी डॉ. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव द्वारा वर्ष 1982 में लिखी गयी पुस्तक 'आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय' आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। यह ग्रंथ मूलतः पश्चिमी दार्शनिकों पर केन्द्रित है, जिसमें टालकट पारसन्स, राबर्ट मर्टन, कार्ल मार्क्स, जिम्मेल, डेहन्डार्फ, कोजर, बिलफ्रेडो पारेटो, अल्फर्ड शूज, लेवी स्ट्रास और अलथूजर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विद्वान लेखक ने ऐसे अनेक विद्वानों के जटिल सिद्धांतों को जिस तरह से इस पुस्तक 'आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय' में सरल हिन्दी में समझाया है और व्यवस्थित रूप दिया है, वह अत्यंत सराहनीय है। इस ग्रंथ की उपयोगिता इस बात से भी प्रमाणित है कि अब तक इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और अब चौथा संस्करण आपके समक्ष है। आशा है कि समाज विज्ञान का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के बीच इसकी उपयोगिता पूर्व की भाँति बनी रहेगी।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

प्राक्कथन

समाजविज्ञान अत्यन्त फलता-फूलता हुआ विज्ञान होते हुए भी संकटग्रस्त है। आधुनिक युग की परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदल रही हैं कि इसके सिद्धान्त और आवधारणाओं की पकड़ छूट जा रही है। समाजवैज्ञानिक जगत में नये सिद्धान्तों और अवधारणाओं की रचना हो रही है। नित नये संवाद उभर रहे हैं। पश्चिमी सम्पन्न देशों में भी समाजविज्ञान संकटग्रस्त है। लोग बुनियादी विज्ञानों और दर्शन की ओर मुड़ रहे हैं। आँकड़ों और ज्ञान का संचयन इतना अधिक हो चुका है कि किसी नये विज्ञान के प्रस्फुटन की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में सबको समेट पाना तो कठिन है, मगर जो कुछ साफ रास्ते पर आ गया है, उसका अध्ययन आवश्यक है। हमें अपने पाठ्यक्रम का पुनर्निरीक्षण करना होगा। पंजाब, राजस्थान, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के अनेक विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रमों का नवीनीकरण कर लिया है। हिन्दी के माध्यम से समाजविज्ञान के पठन-पाठन की एक कठिनाई यह है कि बिना नवीन समाजवैज्ञानिक साहित्य का सृजन किये हुए नवीनतम होना, या तो सम्भव नहीं है, या व्यर्थ है। इस आवश्यकता की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए यह परिचयात्मक पुस्तक लिखी गयी है। इसमें आधुनिक सैद्धान्तिक संवादों की गम्भीरता को समझते हुए पारसन्स और मर्टन के साथ, सामाजिक संघर्ष, सामाजिक विनिमय, प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रिया और लोकविधिविज्ञान का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक की रूपरेखा तैयार करने में लगभग दो वर्ष लगे हैं। इस बीच कई मित्रों और सहयोगियों से सहायता मिली है। उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। डॉ. पारसनाथ तिवारी सहलेखक के रूप में सहयोग दे रहे थे, मगर उनके स्थानान्तरित हो जाने के कारण सहयोगक्रम आगे नहीं बढ़ पाया। हमारे विभागाध्यक्ष प्रोफेसर सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव हिन्दी में समाजवैज्ञानिक साहित्य के अभाव के परिणामों को, भली–भाँति समझते हैं। इस कार्य में उनसे प्रेरणा मिली है, मैं उनका आभारी हूँ।

वसन्त पंचमी, 1982

हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

द्वितीय संस्करण पर टिप्पणी

मानव-समाज और सामाजिक विज्ञानों में जो उथल-पुथल चल रही है और जिस तीव्र गति से विश्व की भाषाओं में, विशेषकर अंग्रेजी में, साहित्य की रचनायें हो रही हैं, उन्हें हिन्दी में लिखना और प्रकाशित करना कठिन है। किन्तु इस अन्तराल की पूर्ति करते रहना हमारा कर्त्तव्य है। सम्प्रतकालीन कुछ सिद्धान्त और विचारक सामान्य संवाद की धुरी बन गये हैं। शिक्षा जगत् से बाहर भी ये तर्कसंगत हैं। समाजविज्ञान के पाठ्यक्रम तो लगातार बदलते जा रहे हैं। इन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये, हमने पुस्तक के दूसरे संस्करण में कुछ अध्याय जोड़े हैं। सामाजिक घटनाविज्ञान, लेवीस्ट्रास के संरचनावाद और अल्थूज़र के संरचनावाद का परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त की समस्या और ज्ञानमीमांसा पर भी कुछ पृष्ठ जोड़े गये हैं–

पुस्तक का पहला संस्करण समाजविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। आशा है दूसरे संशोधित संस्करण से भी वे लाभान्वित होंगे। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा दूसरे संस्करण के लिये हम उनके आभारी हैं–

15 जनवरी 1991 **हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव**

विषय-क्रम

अध्याय—1

समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त
(SOCIOLOGICAL THEORY)

सिद्धान्त का बुनियादी प्रश्न

समाज में व्यवस्था कैसे स्थापित की जाये ? सामाजिक व्यवस्था को किस प्रकार सुरक्षित रखा जाये ? सामाजिक व्यवस्था में प्रगति और परिवर्तन कैसे उत्पन्न हो ? यही वे प्रश्न हैं जिनके प्रत्युत्तर में समाजवैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण किया गया है। समाज में क्रमबद्धता और सुव्यवस्था कायम रखने की समस्या समाज-विज्ञान का बुनियादी प्रश्न है। यह प्रश्न उतना ही सनातन है जितना मानव समाज। आदिकाल से दार्शनिक, धर्मसुधारक, राजनीतिज्ञ और कलाकार इस प्रश्न का समाधान प्रस्तावित करते रहे हैं। मनु धर्मशास्त्र की केन्द्रीय समस्या सामाजिक व्यवस्था है। वर्णाश्रम-धर्म एवं पुरुषार्थ पर समाज में व्यवस्था बनाये रखने का सिद्धान्त मनु ने दिया है। प्लेटो ने सामाजिक व्यवस्था का आधार "सद्‌गुणों" पर रखा है। अरस्तू और कौटिल्य ने विधि पर सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला रखी है। सत्रहवीं शताब्दी में सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न संविदावादी (social contract theory) सिद्धान्तकारों ने फिर उठाया। टॉमस हाब्स ने मानव समाज की एक परिकल्पना प्रस्तावित किया है। व्यवस्था उत्पन्न होने से पहले मनुष्य प्राकृतिक दशा में रहा करता था, उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। व्यवस्था एवं नियन्त्रण के अभाव में मनुष्य निरन्तर भयग्रस्त रहता था। उसके चारों तरफ हिंसा और मृत्यु नाचा करती थी। मनुष्य का जीवन एकाकी, दुर्गम, घिनौना, पशुवत एवं एकाएक समाप्त हो जाने वाला था। यदि मनुष्य को उसकी इसी दशा में छोड़ दिया गया होता तो सामाजिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ होता। मनुष्य के स्वभाव के विषय में हाब्स का यह दृष्टिकोण है कि यदि मनुष्य को निरंकुश छोड़ दिया जाय तो वह स्वार्थ, शक्ति और लाभ के पीछे मर मिटेगा। अपनी इस मान्यता के आधार पर हाब्स ने प्रश्न उठाया कि किस तरह न्यूनतम सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न की जाये और कैसे उसे कायम रखा जाये ? आज हम हाब्स के प्रश्न को उस रूप में तो स्वीकार नहीं करेंगे लेकिन समाज में व्यवस्था की समस्या को हम किसी भी तरह नकार

नहीं सकते। समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त इसी प्रश्न का तथ्यगत एवं तर्कसंगत उत्तर देने का प्रयास करता है। समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त से सामाजिक घटनाओं की गहरी समझ उत्पन्न होती है। इसके द्वारा हाब्स के बुनियादी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जाता है।

सिद्धान्त क्या है ?

सिद्धान्त मानसिक क्रिया है। इस कथन की व्याख्या आवश्यक है। मनुष्य में तार्किक चिन्तन और कल्पनाशक्ति है। यथार्थ को नियमों में बाँधकर अवलोकन करना सैद्धान्तिक अवलोकन है। जगत का यथार्थ व्यक्ति से बाहर होता है। उनका अवलोकन करने से घटनाओं में क्रमबद्धता प्रतीत होती है। वर्षा होगी तो प्रायः बादल भी आसमान पर होंगे। आग होगी तो धुआँ भी होगा। किसी समूह में यदि एकता अधिक है तो उसमें समानता भी अधिक होगी। इस तरह के अवलोकन से घटनाओं में क्रमबद्धता प्रतीत होती है और क्रमबद्धता से नियमों की स्थापना होती है। बाहरी जगत की क्रमबद्धता का मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि से पता लगाता है। जब वह इस क्रमबद्धता की अभिव्यक्ति प्रतीक या भाषा के माध्यम से करता है तो नियम (laws) अथवा सिद्धान्त की स्थापना करता है। इसी अर्थ में सिद्धान्त एक मानसिक क्रिया है। उद्यान में फूल के समान नियम खिले हुए नहीं मिलते। वास्तव में नियमों को तो अवलोकन, तर्कबुद्धि एवं कल्पनाशक्ति से, विश्वसनीय अनुमान के रूप में प्राप्त किया जाता है। यह क्रिया बौद्धिक है। इसकी अभिव्यक्ति शाब्दिक है। सिद्धान्त भाषाबद्ध होता है। बादलों में चमकती हुई बिजली घटना है। घटना के नियमों की स्थापना मानसिक क्रिया द्वारा की जाती है। सम्पत्ति का बँटवारा और पारिवारिक विघटन सामाजिक घटना है। नगरीय केन्द्र अपराध का अड्डा होता है। सामाजिक समानता से एकता उत्पन्न होती है। इसी तरह की अनेक सामाजिक घटनाओं से नियम स्वतः प्रस्फुटित नहीं होते। इनमें व्याप्त नियमों की खोज तर्कबुद्धि से की जाती है। एक या एक से अधिक नियमों से सिद्धान्त बनता है। घटनाओं के सम्बन्ध में तथ्यगत निश्चयात्मक कथनों के तार्किक अन्तर्सम्बन्धों की रचना, सिद्धान्त है। सिद्धान्त घटनाओं पर नहीं बल्कि घटनाओं के गुण-धर्म (properties) पर आधारित होता है। इस परिभाषा के अनुसार सिद्धान्त की निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(अ) सिद्धान्त परिभाषा से भिन्न है। सिद्धान्त में एक वर्ग को घटना के गुण-धर्म को दूसरे वर्ग को घटना के गुण-धर्म से अन्तःसम्बन्धित किया जाता है जैसे, किसी समूह के सदस्यों को समानता (सदस्यों के गुण-धर्म) का सम्बन्ध

समूह की एकता (समूह के गुण-धर्म) से सम्बन्धित है। इस प्रकार के तथ्यगत निश्चयात्मक कथनों से सिद्धान्त बनता है।

(ब) सिद्धान्त के आधार वाक्य तथ्यगत होते हैं। अर्थात् सिद्धान्त कोरी कल्पना नहीं होता। किन्तु ऐसे भी निश्चयात्मक कथन होते हैं जिनसे मिलता-जुलता वास्तविक आधार तो नहीं होता, परन्तु इस प्रकार के कथन सिद्धान्त के लिये आवश्यक होते हैं। जैसे, यह कहा जाय कि "समूह में सन्तुलन है" तो तराजू के सन्तुलन के समान समूह के सन्तुलन को देखा नहीं जा सकता, मगर इस प्रकार के निश्चयात्मक कथनों का सिद्धान्त में उपयोग किया जाता है।

सिद्धान्त के तत्त्व या रचना-स्तम्भ

(The Elements or Building-blocks of Theory)

सिद्धान्त के माध्यम से वैज्ञानिक यह बताता है कि कोई घटना "क्यों और कैसे" घटती है। सिद्धान्त विचारों के विकास की प्रक्रिया है। इसके तत्त्व या रचना-स्तम्भ निम्नलिखित हैं—

(अ) अवधारणायें या इकाई (concepts or units)
(ब) परिवर्त्य या घटक (variables)
(स) निश्चयात्मक कथन (assertions or statements)
(द) आकार (formats)

प्रत्येक के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेने से समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त के विश्लेषण में सहायता मिलती है।

अवधारणा या इकाई—अवधारणाएँ घटनाओं को प्रदर्शित करती हैं। समस्त यथार्थ में से आवश्यकतानुसार, जितने अंश को हम अलग करके समझते हैं, उसे अवधारणा कहते हैं। अवधारणा वह प्रतीक या शब्द (या शब्द-समूह) है जिसके द्वारा किसी यथार्थ का बोध होता है। जैसे, समूह की अवधारणा से दो या दो से अधिक व्यक्ति, नेतृत्व, शक्ति, सामूहिक उद्देश्य आदि यथार्थ समझे जाते हैं। समाजीकरण की अवधारणा से हम यह समझते हैं कि व्यक्ति भूमिका कैसे ग्रहण करता है। अपराध की अवधारणा से हम उस व्यवहार को समझते हैं जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक या विधिक हानि पहुँचती है। सामाजिक भूमिका से हम यह समझते हैं कि व्यक्ति क्या करता है। यथार्थ को सीमित करके, प्रतीक या शब्दों से यथार्थ को समझना, अवधारणा का उद्देश्य है। अवधारणा की उपयोगिता निम्नलिखित है—

(1) अवधारणाओं की रचना परिभाषा द्वारा की जाती है। परिभाषित पद का जब अवधारणा के रूप में प्रयोग किया जाता है तो, उसके माध्यम से,

वैज्ञानिक घटनाओं का अवलोकन कर लेता है। प्रत्येक व्यक्ति अवधारणा से उसी यथार्थ को समझता है जिसे अवधारणा द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जैसे, जब हम "संघर्ष" की अवधारणा का प्रयोग करते हैं तो समझते हैं कि दो पक्षों में से, एक पक्ष, दूसरे पक्ष की लक्ष्य-पूर्ति में, बाधा डाल रहा है।

(2) अवधारणा से समान अर्थ-बोध (common meaning) का संचार होता है। वैज्ञानिक समुदाय का प्रत्येक सदस्य एक अवधारणा का एक ही अर्थ लगाता है। शब्दबद्ध होने के कारण अवधारणाएँ बिल्कुल तटस्थ (neutral) नहीं होतीं। गणित में जिस प्रकार प्रतीकों का (अंक चिह्न) तटस्थ बोध कराता है, उस प्रकार सामाजिक विज्ञानों की अवधारणाएँ तटस्थ नहीं होतीं। इस कारण कुछ समाजवैज्ञानिक अवधारणा के स्थान पर इकाई (unit) का प्रयोग करने लगे हैं।

(3) अवधारणाओं द्वारा यथार्थ को वर्गीकृत किया जाता है। वर्गों में बाँट देने से विश्लेषण में सहायता मिलती है।

(4) यथार्थ का अमूर्त रूप (abstraction) अवधारणाओं द्वारा प्रकट होता है। अवधारणाएँ दो प्रकार की होती हैं।

(अ) वास्तविक अवधारणाएँ (referent concepts)—अवधारणाओं से ठोस, वास्तविक एवं तथ्यगत घटनाओं का बोध होता है। जैसे, अपराध, संघर्ष, हिंसा, परिवर्तन, विघटन आदि।

(ब) अवास्तविक अवधारणाएँ (non-referent concepts)—जिन अवधारणाओं से ऐसे गुण या वस्तु का बोध होता है जो वास्तविक जगत में दिखाई नहीं पड़तीं, परन्तु सिद्धान्त निर्माण या यथार्थ की व्याख्या करने में उनका प्रयोग किया जाता है। जैसे, ईश्वर, स्वर्ग-नरक, सामाजिक सन्तुलन, विश्व-आत्मा आदि का ठोस अस्तित्व तो नहीं होता किन्तु इनसे सामाजिक घटनाओं की समझ अवश्य होती है। गणित के सभी अंक और चिह्न मात्र प्रतीक स्वरूप होते हैं, परन्तु उनसे यथार्थ की रचना, यथार्थ की मात्रा या वर्गीकरण निर्धारित होता है।

अवधारणाओं के अमूर्त चरित्र से एक समस्या उठ खड़ी होती है। हर क्षण बदलने वाले जगत के विषय में अवधारणाएँ किस प्रकार आवश्यक ज्ञान दे सकती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कार्यकारी परिभाषा (operational definition) या अवधारणा का निर्माण किया जाता है। अपनी आवश्यकतानुसार वैज्ञानिक घटनाओं की कार्यकारी परिभाषा बना लेता है। उसके अध्ययन में किसी अवधारणा से केवल वही और उतना ही समझा जायेगा,

जितना कि कार्यकारी परिभाषा में, वह रखना चाहता है। जैसे, किसी अध्ययन में अपराधी की कार्यकारी परिभाषा देते हुए कहा गया हो "व्यक्ति जो अदालत से सजा पाता है, अपराधी है"। "मरीज वह है जो अस्पताल में रोगी की हैसियत से पंजीकृत किया गया है।" "ग्रामीण नेता वह है जो निर्वाचन द्वारा किसी स्थानीय निकाय का पदाधिकारी चुना गया हो।"

सिद्धान्त निर्माण में अवधारणाओं का प्रयोग उसी तरह किया जाता है जैसे इमारत बनाने में ईंटों का प्रयोग होता है। अवधारणाओं से यथार्थ परिभाषित और वर्गीकृत होता है। यथार्थ को व्यवस्थित रूप देने के लिये अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है।

(ब) परिवर्त्य—परिवर्त्य भी अवधारणा है। अवधारणाएँ दो तथ्य प्रगट करती हैं। पहला, घटनाओं का केवल नामकरण करती है। दूसरा, घटनाओं में अंशों का अन्तर प्रगट करती हैं। जैसे, ५–१२ वर्ष के बालक, १३–१९ वर्ष के बालक, अधिक संयुक्तता वाले संयुक्त परिवार, कम संयुक्तता वाले संयुक्त परिवार। इस प्रकार की अवधारणाओं को परिवर्त्य कहते हैं। दो या दो से अधिक परिवर्त्यों में जब सह-सम्बन्ध पाया जाता है तो उसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है।

(अ) समभागी सम्बन्ध (symmetrical relationship)—जिस तरह "अ" का सम्बन्ध "ब" से है, उसी तरह "ब" का सम्बन्ध "अ" से है। जैसे, समूह के सदस्यों में समानता बढ़ेगी तो उनमें एकता भी बढ़ेगी। अथवा, समूह में एकता अधिक होगी तो सदस्यों में समानता भी अधिक होगी।

(ब) असमभागी सम्बन्ध (non-symmetrical relationship)—"अ" का "ब" से जिस प्रकार का सम्बन्ध है, "ब" का सम्बन्ध "अ" से उसी प्रकार का नहीं है। जैसे, कीटाणु से ज्वर उत्पन्न होता है, लेकिन ज्वर से कीटाणु उत्पन्न नहीं होते।

परिवर्त्यों में सम्बन्ध स्थापित करके जो तर्क वाक्य बनाये जाते हैं, उन्हें नियम या विधि कहते हैं। इस प्रकार के तर्कवाक्यों से सिद्धान्त निर्मित होता है। ऐसे वाक्यों को निश्चयात्मक कथन भी कहते हैं।

(स) निश्चयात्मक कथन—सिद्धान्त का उद्देश्य घटनाओं की व्याख्या करना होता है। यह व्याख्या तभी सम्भव होती है जब परिवर्त्यों में सह-सम्बन्ध दिखाया जा सके। समाज विज्ञान के सन्दर्भ में हम कुछ उदाहरणों से इसे स्पष्ट कर सकते हैं। "सामाजिक-संघर्ष" एक परिवर्त्य है। दूसरा परिवर्त्य है "सामाजिक-संगठन"। तथ्यों के आधार पर हम यह पाते हैं कि सामाजिक संघर्ष एवं

सामाजिक संगठन एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। अतः निश्चयात्मक कथन इस प्रकार हो सकते हैं—(1) दूसरे समूहों से संघर्ष जितना बढ़ता जायेगा, अपने समूह में एकता उतनी ही बढ़ती जायेगी। (2) शहरी केन्द्र से जितने निकट होते जायेंगे, अपराध की मात्रा उतनी ही बढ़ती जायेगी। (3) व्यक्ति सामूहिक दबाव से जितना ही मुक्त होता जायेगा, उसका जीवन उतना ही अधिक विचलनकारी होता जायेगा। (4) व्यक्ति जब अपनी प्रस्थिति की तुलना अपने से उच्च प्रस्थिति से करेगा तो, दुःखी होगा। ये सभी उदाहरण निश्चयात्मक कथन के हैं। इसी प्रकार के कथनों से समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त की रचना की जाती है। इन्हें सैद्धान्तिक-कथन भी कहते हैं। इस तरह के कथनों में परस्पर तार्किक-सम्बन्ध दिखाया जाता है।

(द) **सिद्धान्त का आकार**—सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप से संगठित करना उसे आकार देना होता है। तथ्यों पर आधारित सामान्य निष्कर्षों को तार्किक ढंग से तरतीब देते हैं। यह कार्य कठिन होता है। सामाजिक विज्ञानों में निम्नलिखित प्रकार के सैद्धान्तिक आकार दिये जा सकते हैं—

(1) सूक्तिमय आकार (axiomatic form)

(2) कारण-कार्य आकार (causal form)

सूक्तिमय आकार—यह आकार अत्यन्त सूक्ष्म एवं अमूर्त अवधारणाओं पर आधारित होता है। अवधारणाओं की एक शृंखला बनायी जाती है। अत्यन्त व्यापक अवधारणाएँ ऊपर रखी जाती हैं और उनके आधार पर दूसरे कथन प्रमाणित किये जाते हैं। प्रत्येक तर्क-वाक्य एक विधि के समान होता है। जैसे, समाज एक व्यवस्था है। व्यवस्था होने के कारण इसके सभी अंग अन्तर्सम्बंधित हैं। व्यवस्था का प्रत्येक अंग किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। जब सभी अंग आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे तभी समाज संगठित एवं व्यवस्थित रहेगा।

सूक्तिमय आकार तार्किक व्यवस्था होती है। अधिक सामान्य निष्कर्षों से कम सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं और उन सभी निष्कर्षों को तर्क संगत विधि से सूत्रबद्ध किया जाता है।

कारण-कार्य आकार—सामाजिक विज्ञानों में कारण-कार्य पर सिद्धान्त बनाना कठिन होता है। इसके अन्तर्गत एक परिवर्त्य का सिद्धान्त दूसरे परिवर्त्य से दिखाते हुए एक को कारण तथा दूसरे को कार्य बताया जाता है। कारण-कार्य पर आधारित-सिद्धान्त इसलिये कठिन होता है कि सामाजिक घटनाओं के विषय में कारण-कार्य बहुत स्पष्ट नहीं होते हैं, लेकिन समाजवैज्ञानिक अपनी आवश्यकता के अनुसार कारण-कार्य को परिभाषित कर लेता है। किसी दिये हुये सन्दर्भ में,

वह यह स्थापित कर सकता है कि अमुक घटना कारण तथा अमुक घटना उसका परिणाम है। जैसे, बेरोजगारी कारण है और उसका परिणाम यह होता है कि लोग अपना घर छोड़कर शहरी केन्द्रों की ओर प्रवास कर जाते हैं। महानगरीय जीवन में अरक्षा और एकान्त जटिल कारण हैं जिनका परिणाम यह होता है कि महानगर में भी पहुँचकर एक क्षेत्र के लोग किसी निश्चित स्थान पर ही केन्द्रित होकर बसते हैं। वहाँ वे अपनी भाषा बोलते और अपने ही क्षेत्र की संस्कृति के अनुसार जीवन बिताते हैं। पूर्वोक्त सैद्धान्तिक-कथनों में क्या कारण है और क्या कार्य है, इसे अन्तिम रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। लेकिन दिये हुए सन्दर्भ में एक कारण लगता है और दूसरा कार्य। सामाजिक-विज्ञानों में इस रूप में कारणता दिखाते हुए सिद्धान्त को आकार दिया जाता है।

सिद्धान्त और ज्ञानमीमांसा

ज्ञान प्राप्त करने की विधि को ज्ञानमीमांसा कहते हैं। सामाजिक घटनाओं के विषय में ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय ? इस प्रश्न को लेकर समाज-विज्ञान में दो प्रबल पक्ष हैं। अठारहवीं शताब्दी के नवजागरण के परिणामस्वरूप "मनुष्य की विवेकशीलता" और विज्ञान की सम्भावनाओं में इतनी अधिक आस्था उत्पन्न हुई कि यह मान लिया गया कि—

—मनुष्य का व्यवहार तर्कयुक्त और विवेकशील हो जायेगा।

—शिक्षा और विज्ञान की प्रगति से एक "अच्छे समाज" की स्थापना हो ही जायगी।

विज्ञान का दूसरा अर्थ तर्कयुक्त है। अगर विज्ञान होगा तो तर्कयुक्तता भी होगी। अगर समाज का विज्ञान बन जाय तो मानव व्यवहार विवेकशील हो जायेगा। शिक्षा द्वारा ज्ञान का प्रसार होता रहेगा। विज्ञान और शिक्षा को समृद्ध-समाज की कुंजी मान लिया गया। इसी उत्साह में समाज-विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के समान ही विज्ञान बनाने का प्रयास प्रारम्भ हुआ और प्राकृतिक विज्ञान की ज्ञान प्राप्त करने की विधि को समाज विज्ञान का आधार बनाने का पक्ष जोर पकड़ने लगा। इसके विपरीत दूसरा उपादान यह था कि मानव-समाज और उसका व्यवहार प्राकृतिक तथ्यों से भिन्न है। इसलिए प्राकृतिक विज्ञान की विधियाँ सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पर लागू नहीं होंगी। दोनों ही पक्ष समाज विज्ञान की ज्ञानमीमांसा हैं। पहले पक्ष को प्रत्यक्षवाद और दूसरे पक्ष को व्याख्यामूलक समाज विज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्षवाद

प्राकृतिक विज्ञान की विधियों के प्रयोग को प्रत्यक्षवाद कहते हैं। सामाजिक

तथ्यों के अध्ययन में इनका प्रयोग समाज वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद है। इसकी भी दो धारायें हैं—(i) प्रत्यक्षवाद और (ii) नव-प्रत्यक्षवाद।

प्रत्यक्षवाद वास्तव में आदर्शवाद का विकल्प है। समाज के विषय में चिन्तन हर काल में होता रहा है लेकिन ऐसा चिन्तन हमेशा तथ्यों और आँकड़ों पर आधारित नहीं रहता है। कुछ नैतिक आदर्शों, कल्पना और पूर्वाग्रहों से प्रेरित सामाजिक चिन्तन आदर्शवाद है। इस प्रकार के चिन्तन का आधार "विचार" है, तथ्य नहीं। आदर्शवादी चिन्तन कोरी कल्पना हो, ऐसा भी नहीं लेकिन उसमें तथ्यों से जुड़े रहने की बाध्यता नहीं है। प्रत्यक्षवाद तथ्यों से बँधा हुआ चिन्तन होता है बिलकुल उसी तरह जैसे प्राकृतिक विज्ञान तथ्यों पर आधारित होता है। तथ्यपरक होने की बाध्यता ही प्रत्यक्षवाद को आदर्शवाद से अलग करती है। आदर्शवाद ज्ञानमीमांसा का एक स्वरूप है, नैतिक आदर्शों से इसका सम्बन्ध नहीं है। समाज के विषय में ज्ञान के जिन तथ्यों को आगस्त कून्त ने आधार बनाया था उन्हीं से समाज विज्ञान में प्रत्यक्षवाद का सूत्रधार उन्हीं को माना जाता है। कून्त से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यक्षवाद की परम्परा का पारम्परिक या "पुराना" प्रत्यक्षवाद सिर्फ "प्रत्यक्षवाद" कह दिया जाता है। प्रथम महायुद्ध कों बाद प्रत्यक्षवाद में जो विकास हुआ, उसे नव-प्रत्यक्षवाद की धारा कहते हैं।

पुराने प्रत्यक्षवाद में सामाजिक तथ्य को प्राकृतिक तथ्य के समान नहीं माना जाता है। नव-प्रत्यक्षवाद दोनों में अन्तर नहीं मानता। आगस्त कून्त कहते थे कि अगर समाज का पुनर्निर्माण करना है तो समाज का एक विज्ञान होना भी आवश्यक है। विज्ञान तभी बन सकता है जब वह तथ्यों पर आधारित हो। कून्त के प्रत्यक्षवाद के अनुसार तथ्यों का संकलन होना चाहिये। तथ्यों को उनके गुण के आधार पर वर्गीकृत करना चाहिये। फिर यह देखना चाहिये कि तथ्यों के किस वर्ग का सहसम्बन्ध किस दूसरे वर्ग से है। इस तरह विभिन्न वर्गों में कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित होगा। सामान्य निष्कर्ष निकाले जायेंगे। तथ्यों का संकलन अवलोकन (सीधी अनुभूति) द्वारा किया जायगा। प्राकृतिक विज्ञानों की कार्यविधि भी यही है।

दुर्खीम ने प्रत्यक्षवाद को कठोर यथार्थवाद के निकट पहुँचा दिया। "सामाजिक तथ्य वस्तु के समान", व्यक्ति की चेतना से पृथक् है। बाह्यता और बाध्यता सामाजिक तथ्य की विशेषतायें हैं। तथ्यों से कोई छेड़-छाड़ नहीं होनी चाहिये। तथ्य, जैसे हों, उन्हें बस उसी तरह प्रस्तुत कर देना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि किसी सामाजिक तथ्य का सामाजिक जीवन में क्या स्थान है ? अगर "विवाह" एक तथ्य है तो समाज के संगठन को बनाये रखने में, इस

तथ्य का क्या स्थान है ? इस "स्थान" को समझना, इसकी विवेचना करना, समाज वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद है। सामाजिक व्यवस्था में तथ्य का "स्थान" भी एक तथ्य है, कल्पना या अनुमान नहीं है। दुर्खीम से लेकर पारसन्स तक प्रत्यक्षवाद का यही क्रम चलता रहा : तथ्य को एकत्रित करना और व्यवस्था में तथ्यों का "स्थान" देखना। तथ्य अगर संगठनपरक हैं तो अच्छा है. अगर उनसे विघटन होता है (मर्टन) तो भी कोई बात नहीं। लेकिन प्रत्यक्षवाद का ज्ञानमीमांसा की सीमारेखा के पार जाना, विज्ञान नहीं होगा।

दुर्खीम से प्रभावित होकर रैड-क्लिफ ब्राउन और मालिनोवस्की ने प्रत्यक्ष-वाद को एक व्यवस्थित पद्धति में बदल दिया। सामाजिक विश्लेषण पद्धति को प्रकार्यवाद कहते हैं। सभी मनुष्य शारीरिक बनावट और अपनी आवश्यकताओं में समान हैं। सांस्कृतिक भिन्नता के कारण उनमें भिन्नता आती है। अतः मनुष्य पर प्रभाव डालने वाला तथ्य, बस एक है, और वह है संस्कृति। इन स्थापनाओं पर मानवशास्त्रियों ने कसकर मुहर लगा दी और व्यक्ति-संस्कृति-समाज का प्रत्यक्षवादी अध्ययन करना शुरू कर दिया। समाजविज्ञान में सबसे प्रबल प्रत्यक्षवादी प्रवृत्ति प्रकार्यवाद ही है।

इस बीच प्रथम महायुद्ध (1914-17) तक आते-आते प्राकृतिक विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली। तथ्यों को समझने तथा देखने की विधियाँ विकसित हो गयीं। प्राणी विज्ञान पर व्यवहारवाद का प्रभाव बढ़ गया। समाज विज्ञान में पुराने प्रत्यक्षवाद की कुछ स्थापनाओं को और भी तीव्र गति से रखा जाने लगा। नव-प्रत्यक्षवाद की कुछ प्रमुख स्थापनायें इस प्रकार हैं :—

—तथ्यों को नापना और मात्राओं में रखना किसी भी विज्ञान के लिए आव-श्यक है। समाज विज्ञान में भी यह सम्भव है।

—हर प्रकार की क्रियाशीलता में ऊर्जा खर्च होती है और खर्च होने वाली ऊर्जा को नापा जा सकता है। सामाजिक व्यवहार भी इसी तरह मात्राओं में नापने योग्य है।

—सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों में कोई अन्तर नहीं है।

—बाहरी व्यवहार ही ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और वैज्ञा-निक अध्ययन भी बाहरी प्रगट व्यवहारों का ही किया जा सकता है। जो प्रगट नहीं है, वह वैज्ञानिक अध्ययन का विषय नहीं है। व्यक्ति की चेतना के आन्तरिक पक्ष जब तक व्यवहार में प्रगट नहीं होते, वैज्ञानिक अध्ययन के लिए व्यर्थ हैं।

—इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति के विचार, उसकी भावनाओं और उसके इरादों का अस्तित्व नहीं होता। होता है, मगर जब तक वे प्रगट नहीं होंगे, वैज्ञानिक उनका अध्ययन नहीं करेगा।

—तथ्यों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है। किसी व्यवस्था के सभी तथ्य एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। ऐसा नहीं होता कि कारण अलग और कार्य अलग हो।

प्रत्यक्षवाद तत्काल घटना का विवेचन करता है। सुदूर ऐतिहासिक कारणों में जाकर विवेचना नहीं करता। सुदूर जाना पूर्वाग्रह को पालना है। सुदूर अतीत का अगर कोई तथ्य अभी तक तर्कसंगत या प्रभावकारी होगा तो तात्कालिक स्थिति में अवश्य पाया जायगा।

नव-प्रत्यक्षवाद तत्काल में जो कुछ प्रगट है, उसी का अध्ययन करता है। क्या होना चाहिये, इस पर विचार करना अवैज्ञानिक है। इतिहास में जाना भूल है। मात्रा में न रख पाना, कविता करने के समान है। प्रत्यक्षवाद समाज को निर्धारित गति से पहले वाला मानता है। छोटी-छोटी घटनाओं की तथ्यगत नाप-जोख कर विवेचना करता है। व्यापक निष्कर्ष निकालने की सम्भावनायें हैं भी बहुत कम। छोटे समूहों का अध्ययन करना ही सम्भव है।

स्वेच्छावाद

प्रत्यक्षवाद आदि के विपरीत धारा को स्वेच्छावाद कहते हैं। ज्ञानमीमांसा की यह धारा सम्प्रति समाजविज्ञान की प्रमुख प्रवृत्ति है। व्यक्ति उत्तेजना-प्रतिक्रिया का पुंज मात्र नहीं है। सचेत, कल्पनाशील, विवेकशील और निर्णय लेने वाले प्राणी के रूप में मानव व्यक्ति होता है। वह परिस्थिति की विवेचना करता है। विकल्पों की तुलना और मूल्यांकन करता है और उसके बाद किसी एक विकल्प का चयन करता है। सिद्धान्त में यह माना जाता है कि विकल्प का चयन वह स्वेच्छा से करता है। चयन की स्वतन्त्रता ही स्वेच्छा है। स्वेच्छावाद का अर्थ होता है व्यक्ति के आत्मपरक तथ्यों, प्रगट अथवा अप्रगट, का उसके व्यवहार में योगदान होता है। अप्रगट आत्मपरक पक्ष है और इसका अध्ययन किये बिना सामाजिक व्यवहार की व्याख्या अधूरी होगी। व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष का अध्ययन भी तटस्थ होकर किया जा सकता है।

मेक्सवेबर के विचारों में स्वेच्छावाद के अंकुर मिलते हैं। व्यक्ति के आन्तरिक अर्थ बोध का वस्तुपरक अध्ययन किया जा सकता है। प्राकृतिक तथ्यों और मानवीय तथ्यों में अन्तर है। उनमें अन्तर न मानना, कहा जाता है कि, एक प्रकार का जंगलीपन है। मानव व्यवहार प्राकृतिक तथ्यों के व्यवहार से भिन्न है इसलिए समाजविज्ञान की अध्ययन विधियाँ प्रकृतिविज्ञान से भिन्न होंगी। यह संवाद अब पुराना पड़ चुका है। यह मसला आज भी अनिर्णीत है। लेकिन सम्प्रतिकालीन समाज विज्ञान में प्रत्यक्षवाद और प्रकार्यवाद का महत्त्व घट गया है। व्यक्ति की चेतना, अर्थ बोध और स्वेच्छा का महत्त्व बढ़ गया है।

स्वेच्छावाद का यह मतलब नहीं निकालना चाहिये कि व्यक्ति दबावमुक्त या बन्धनमुक्त है अथवा चुनाव करने की सुविधा असीमित है। ऐसा कुछ नहीं है। यह एक पक्ष है। सामाजिक संस्थाओं, संस्कृति और बाहरी भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव, उसके चुनाव को परिसीमित करते हैं। लेकिन प्रश्न है कि सामाजिक व्यवहार को क्या माना जाय? दशाओं और स्थितियों से व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित होता है। वह काठ का खिलौना है या सोच-समझ कर निर्णय लेने वाला व्यवहार करता है। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि वह अपने कार्यों के लिए जिम्मेदार है या नहीं अगर वह स्वेच्छित है तो उसके अर्थ बोध का अध्ययन भी होना चाहिये।

समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त की समस्यायें

समाजविज्ञान में सिद्धान्त निर्माण सम्भव है या नहीं यह मूल प्रश्न है तो पुराना, मगर आज तक इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका। दूसरा प्रश्न है कि तथाकथित समाजविज्ञान के सिद्धान्त, सिद्धान्त हैं भी या नहीं। तीसरा प्रश्न जो आजकल उठ खड़ा हुआ है वह यह कि सामाजिक घटनायें सामान्य होती हैं या अनोखी, अगर अनोखी होती हैं तो मात्र उनकी व्याख्या की जा सकती है। उनके विषय में सामान्य नियम नहीं बनाये जा सकते। घटनाओं के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। सामाजिक घटनाओं के विषय में सिद्धान्त वही बना सकते हैं जो समाजविज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के समान बनाना चाहते हैं। सामाजिक घटनायें अनोखी हैं, इतिहास में कोई क्रमबद्धता नहीं है, इन बातों पर बड़ा जोर दिया जा रहा है। समाजविज्ञान में अवधारणात्मक विश्लेषण सम्भव है। सिद्धान्त के नाम पर बहुत कुछ जो प्रचलित है, वास्तव में विश्लेषण ही है।

राबर्ट मर्टन ने समाजविज्ञान में सिद्धान्त को भौतिकी माडल से भिन्न बताया है। समाजविज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों के समान समृद्ध नहीं है, इसलिए समाजविज्ञान के सिद्धान्त "हमारे अपने" होंगे। वर्तमान स्थिति में समाजविज्ञान में सार्वलौकिक सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते। हमें मध्य सीमावर्ती बनाकर सन्तोष करना होगा। ऐसे सिद्धान्त प्रतिदिन की समस्याओं के विषय में होंगे। पूरे समाज के विषय में सिद्धान्त नहीं होगा। पूरे समाज के विषय में सिद्धान्त बनाने का प्रयास, पारसन्स ने किया है। पारसन्स का सिद्धान्त एक "योजना" है, तथ्यगत जाँचा-परखा सिद्धान्त नहीं है। मर्टन के मध्यसीमावर्ती तथ्यगत सिद्धान्त और पारसन्स के अवधारणामूलक सिद्धान्त को छोड़कर, अभी तक समाजविज्ञान में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे सिद्धान्त की कोटि में रखा जा सके। छोटे-छोटे

नियमों की स्थापना अवश्य की गयी है। सामाजिक विनिमय इसका अच्छा नमूना है।

अट्ठारहवीं शताब्दी से उठा हुआ विचारों का झोंका, बीसवीं शताब्दी के अन्त तक बिखर गया। समाज की क्रमबद्धता, लयबद्धता, विकासक्रम की कल्पना, सब कुछ ताश के पत्तों की तरह बिखर गयी। आज के समाज की घटनाओं का सामान्य विश्लेषण किसी सामाजिक विज्ञान के पास नहीं है। सभी सामाजिक विज्ञान संकटग्रस्त हैं। पैराडाइम-परिवर्तन की आवश्यकता है। विकासक्रम के एक स्तर पर पहुँचकर, न जाने क्यों, मानव समाज अस्त-व्यस्त होने लगा है। क्रमबद्धता ढूँढने वाले अस्तव्यस्तता की व्याख्या नहीं कर पा रहे हैं। ऐसी दशा में सिद्धान्त निर्माण की सम्भावनायें अभी तो बहुत कम लगती हैं।

समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त की स्थिति को असंतोषजनक बताते हुए कुछ लोगों ने वैकल्पिक सिद्धान्त-योजना बनायी है। उनकी योजना में घटनाविज्ञान, लोक-विधिविज्ञान, प्रतीकात्मक क्रियावाद और सामाजिक विनिमय आदि हैं। इस पुस्तक में हम इन पर अलग-अलग अध्याय दे रहे हैं। सामाजिक विनिमय को छोड़कर सभी चेतना और अर्थ बोध से सम्बन्धित हैं। ये सारी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की चेतना पर केन्द्रित हैं। चेतना से बाहर की शक्तियाँ क्यों और कैसे व्यक्ति या समूह को प्रभावित करती हैं? इनका विश्लेषण करना इन सिद्धान्तों की परिधि से बाहर है। समाज के विषय में ज्ञान को सिकोड़ते जाना इन सिद्धान्तों का उद्देश्य है। प्रकार्यवाद ने संस्कृति तक लाकर छोड़ा और तथाकथित वैकल्पिक योजना ने व्यक्ति की चेतना तक सीमित कर दिया। समाज के अध्ययन की सम्पूर्णता लुप्त हो गयी।

एक समस्या यह भी उठ खड़ी हुई है कि समाज वैज्ञानिक ज्ञान "किसलिए" और किसके लिए? वैज्ञानिक ज्ञान बनाने के चक्कर में समाजविज्ञान में नैतिक प्रश्न उठाये ही नहीं जाते। नैतिकता की समस्या उठाना, वैज्ञानिकता से शून्य होना है। हमारा ज्ञान उद्देश्यहीन है। गोलडनर ने कहा है कि समाजवैज्ञानिक को पहले अपना उद्देश्य निश्चित करना चाहिये फिर समाज का अध्ययन करना या समाज में हस्तक्षेप करना चाहिये। अच्छे समाज के निर्माण में हस्तक्षेप करना अगर समाजवैज्ञानिकों की प्रतिबद्धता नहीं है तो समाजविज्ञान तर्कसंगत अनुशासन नहीं है। नैतिक मूल्यों से प्रतिबद्ध होने और वैज्ञानिक होने में परस्पर विरोध नहीं है। समाज स्वयं एक नैतिक-संगठन है। समाज के अध्ययन में नैतिक प्रश्नों की उपेक्षा कैसे की जा सकती है?

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि समाजविज्ञान में सिद्धान्त निर्माण

तकनीकी समस्या नहीं है। सभी समस्यायें अनिर्णीत हैं। समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त की समस्याओं की विषय-वस्तु निम्नलिखित है :

—कुछ समस्यायें विधिक और ज्ञानमीमासांत्मक हैं।

—कुछ समस्यायें निष्कर्ष के व्यापक और सीमित होने की हैं।

—कुछ समस्यायें विषयवस्तु (चेतना या चेतना से बाहर) की हैं।

—कुछ समस्यायें नैतिकता या मूल्य शून्यता की हैं। और

—नई समस्या सामाजिक अस्त-व्यस्तता की है।

इनमें, किसी समस्या का समाधान सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए समाजविज्ञान का विकास भी, एक सीमा पर पहुँचकर, रुक गया है।

REFERENCE

Carl G. Hampel, Fundamentals of Concept Formation in Empirical Science (Chicago University of Chicago Press, 1952).

Reynolds, Primer in Theory Construction.

Karl R. Popper. Conjectures and Refutations (New York : Basic Books, 1962).

Robert Dubin, Theory Building (The Free Press, 1969).

Bergmann, Philosophy of Science (Madison, 1957).

Nagel, The Structure of Science (Harcourt, 1961).

Popper, The Logic of Scientific Discovery (London, 1959).

Stouffer, Social Research to Test Ideas (New York, 1962).

Merton, Social Theory and Social Structure (Free Press, 1968).

Zetterberg, On theory and Verification in Sociology (Totowa, 1963).

●

अध्याय–2

प्रकार्यात्मक-विश्लेषण

(FUNCTIONAL–ANALYSIS)

प्रकार्यवाद और सावयववाद
(Functionalism and Organismic Concept)

उन्नीसवीं शताब्दी में सारे यूरोप पर उपयोगितावादी सिद्धान्तों का (utilitarian doctrine) बोल-बाला था। उपयोगितावादी यह मानते हैं कि यदि समाज को मुक्त और अनियंत्रित स्पर्द्धा में छोड़ दिया जाय तो समाज में व्यवस्था अपने आप उत्पन्न हो जायेगी। मनुष्य में विवेकपूर्ण विकल्पों को चुनने की क्षमता होती है। यदि व्यक्ति को आजाद छोड़ दिया जाय, उस पर कम-से-कम नियंत्रण रखा जाय तो आप-ही-आप उसके व्यवहार व्यवस्थित होंगे। खुली स्पर्द्धा का परिणाम सामाजिक व्यवस्था के रूप में प्रकट होता है। उपयोगितावादी सिद्धान्त, अपने ढंग से, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देता है। समाज में व्यवस्था कैसे उत्पन्न होती है ? इसका उत्तर मुक्त-स्पर्द्धा, नियन्त्रण-हीनता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता ऐसी अवधारणाओं द्वारा दिया गया है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के ही प्रथम पीढ़ी के फ्रांसीसी समाजवैज्ञानिकों ने इस समाधान को चुनौती दिया। उस समय मुक्त-व्यापार और खुली-स्पर्द्धा के आधार पर विकसित औद्योगीकरण और नगरीकरण से सारे यूरोप में सामाजिक विघटन फैल रहा था। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त की राजनैतिक अस्थिरता के कारण फ्रांसीसी क्रान्ति भी हो चुकी थी। फ्रांसीसी सामाजिक चिन्तक बड़ी व्याकुलता से सामाजिक व्यवस्था के स्थिरता का आधार ढूँढ़ रहे थे। उनके समक्ष कुछ गम्भीर प्रश्न इस प्रकार थे—समाज क्यों और कैसे सम्भव है ? समाज कैसे स्थिर रहता है ? समाज किन कारणों से बदलता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने में उपयोगितावादी सिद्धान्त अक्षम था।

इन प्रश्नों का उत्तर जैविक-विज्ञानों (biological sciences) में ढूँढ़ा जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में जैविक खोजों से यूरोप का बौद्धिक वातावरण प्रभावित होने लगा था। वेलेस और डर्विन (Walace and Darwin) के सिद्धान्त सामाजिक विवाद के विषय बन चुके थे। अतः जैविक अवधारणाओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था (social order) समझने का प्रयास प्रारम्भ हुआ।

इस अवधारणा के अनुसार समाज को शरीर या सावयव के सादृश्य माना गया। जिस तरह अंगों के संगठन से शरीर रचना बनती है, उसी प्रकार समाज भी अपने अंगों का संगठन होता है। जिस तरह शरीर विकसित और विभेदीकृत होता है, उसी प्रकार समाज भी सरल से जटिल होता जाता है। शरीर अपने सन्तुलन को स्वतः बनाये रखने का प्रयास करता है। ठीक उसी प्रकार समाज भी अपने सन्तुलन को बनाये रखता है। शरीर का प्रत्येक अंग एक सम्पूर्ण व्यवस्था में संगठित होता है। समाज का प्रत्येक अंग भी एक सम्पूर्ण संगठित व्यवस्था का अंग होता है। अंग का सम्पूर्ण से, और सम्पूर्ण का अंग से, परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध होता है। शरीर और समाज के इस सादृश्य पर प्रारम्भिक प्रकार्यवादी विश्लेषण का विकास हुआ। आगस्त कूँत, हरबर्ट स्पेन्सर और ईमाइल दुर्खीम इस विश्लेषण पद्धति के प्रारम्भिक प्रवर्तक हुए हैं।

आगस्त कूंत (August Comte, 1798–1857)

आगस्त कूंत को समाजविज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। कूंत ने ही "समाज के विज्ञान" (science of society) की वकालत की थी और "समाज-विज्ञान" (sociology) पद की रचना की थी। उसी के प्रकार्यात्मक दृष्टि-प्रारूप का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सामाजिक चिन्तकों पर व्यापक रूप से पड़ा। फ्रांसीसी क्रांति से उत्पन्न विघटन के बीच व्यवस्था और समरसता की खोज करना कूंत का उद्देश्य था। उपयोगितावादी सिद्धान्त के व्यक्तिवाद का कूंत ने खण्डन किया। रूसो और सेन्ट-साइमन की भाँति कूंत भी एक ऐसे "सामूहिक दर्शन" (collective philosophy) का विकास करना चाहता था जिसके नियमों के माध्यम से सामाजिक मतैक्य (social consensus) का सृजन हो सके। समाज के विज्ञान के नियमों को कूंत व्यावहारिक रूप देना चाहता था। ऐसा करने के लिए उसने प्रत्यक्षवाद (positivism) और विज्ञानों की श्रेणी (hierarachy of sciences) की अवधारणा प्रस्तावित किया और विज्ञानों की श्रेणी में समाजविज्ञान को सर्वोच्च स्थान पर रखा। कूंत ने सामाजिक-दर्शन से समाजविज्ञान को पृथक् किया और जीव-विज्ञान से समाजविज्ञान का सम्बन्ध स्थापित किया। सामाजिक स्थिरता और गत्यात्मकता (social static and dynamics) की अवधारणाओं को भी कूंत ने जीव-विज्ञान से अपनाया। इस प्रकार जीव-विज्ञान के सावयव और समाजविज्ञान के शरीर संगठन में सादृश्य स्थापित हुआ।

हरबर्ट स्पेन्सर (1820–1903)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में हरबर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्र के

विकास को आगे बढ़ाया। उस समय इंग्लैण्ड में राजनैतिक स्थिरता थी। स्पेन्सर के अनुभव कूंत से भिन्न थे। कूंत के समूहवाद को स्पेन्सर ने अपना लिया। प्रारम्भिक उद्योगवाद का स्पेन्सर ने सैद्धान्तिक पक्ष उपस्थित किया। कूंत की तरह स्पेन्सर ने भी प्रत्यक्षवाद पर जोर दिया और समाजवैज्ञानिक तथा जैविक नियमों में समानता को महत्त्वपूर्ण बताया। स्पेन्सर ने समाज और शरीर के सादृश्य की दो धाराएँ बतायीं। पहली, जिस तरह शरीर सरल से जटिल होता जाता है, उसी तरह समाज भी सरल से जटिल स्वरूप धारण करता जाता है। शरीर के समान समाज भी विकसित और प्रौढ़ होता है। दूसरी, शरीर और सामाजिक संगठन में तुलना के आधार पर निम्नलिखित हैं—

(अ) शरीर और समाज दोनों ही निर्जीव पदार्थ से भिन्न हैं। दोनों बढ़ते और विकसित होते हैं।

(ब) समाज और शरीर दोनों का जैसे-जैसे आकार बढ़ता है, वैसे-वैसे उनकी जटिलता भी बढ़ती है और उनके अंगों का विभाजन होता जाता है।

(स) दोनों की संरचना में जैसे-जैसे विभाजन और विभेद उत्पन्न होता जाता है, वैसे-वैसे उनके प्रकार्यों में विभेद उत्पन्न होता जाता है।

(द) दोनों में, अंश और सम्पूर्ण का ऐसा सम्बन्ध पाया जाता है कि अंश सम्पूर्ण पर, और सम्पूर्ण अंश पर, निर्भर होता है। यदि एक अंग में परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव दूसरे अंगों पर पड़ता है।

(य) शरीर या समाज का कोई भी भाग, अपने आप में, एक छोटा सा संगठन होता है।

(र) शरीर और समाज का यदि पूरा संगठन नष्ट कर दिया जाय तो भी उसके बिखरे हुए अंग कुछ देर तक जीवित रहते हैं, यद्यपि सामुच्य का जीवन नष्ट हो जाता है।

सादृश्य के उपरोक्त छः बिन्दुओं से दो बिन्दु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि समाज और शरीर जैसे-जैसे आकार में बढ़ते हैं, वैसे-वैसे जटिल होते जाते हैं। दूसरा यह कि संरचना में विभेद उत्पन्न होने से प्रकार्यों में भी विभेद उत्पन्न हो जाता है। इन दो आधारों पर स्पेन्सर ने आधुनिक प्रकार्यवाद की आधारशिला रखी। स्पेन्सर ने, जैविक शब्दावली लेकर, प्रकार्यवादी "आवश्यकताओं की अवधारणा" का समावेश किया। कोई सामाजिक संरचना क्यों जीवित रहती या चलती रहती है? इसका उत्तर उसकी "आवश्यकताओं" से प्राप्त होता है। जब तक सामाजिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी, तब तक उस आवश्यकता की पूर्ति करने वाली सामाजिक संरचना भी बनी रहेगी।

शरीर और समाज के सादृश्य को बताने वाले समानता के आधारों को स्पेन्सर ने इतना अधिक झुका दिया कि यथार्थ और सादृश्य का अन्तर मिट गया। उसके अनुसार समाज सर्वोच्च शरीर-संगठन है। सम्भवतः स्पेन्सर के विचारों में शरीर-संगठनों का कोई श्रेणी-क्रम भी था। स्पेन्सर के शरीर और संगठनवाद की अवधारणा से प्रकार्यवाद के निम्नलिखित बिन्दु उत्पन्न हुए—

(1) सामाजिक यथार्थ को एक व्यवस्था (system) समझा गया।

(2) यह ऐसी व्यवस्था है जिसके सभी अंग एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं। शरीर-संगठन के समान होने के कारण सामाजिक व्यवस्था में कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ भी चलती रहती हैं जो उसकी एकता और सीमा को बनाये रखती हैं।

स्पेन्सर की प्रकार्यवादी अवधारणा का सैद्धान्तिक परिणाम यह निकला कि आधुनिक प्रकार्यवादी सिद्धान्त सामाजिक-व्यवस्था के अन्तर्गत निम्नलिखित अवधारणाओं का समावेश करते हैं—

(1) समाज सीमाबद्ध व्यवस्था है। यह व्यवस्था अपने आप अपना सन्तुलन बनाये रखती है।

(2) चूँकि समाज-व्यवस्था अपना सन्तुलन स्वयं बनाये रखती है, इसलिये उसकी कुछ ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति होने से ही समाज का सन्तुलन बना रहता है।

(3) समाजवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिये आवश्यक है कि व्यवस्था को बनाये रखने वाली आवश्यकताओं का अध्ययन किया जाय और यह भी देखा जाय कि कौन सी आवश्यकता किस प्रकार की संरचना से पूरी होती है।

(4) सामाजिक व्यवस्था की कुछ संरचनाएँ ऐसी होती हैं जो समाज के जीवन और उसके सन्तुलन को बनाये रखती हैं। अगर इन संरचनाओं को क्षति पहुँचे तो समाज में वैकल्पिक संरचनाएँ भी होती हैं जिनके सन्तुलन बनाये रखने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है।

उपरोक्त स्थापनाएँ प्रकार्यवाद-बिन्दु बनी रही है। शरीर में तो सन्तुलन-वादी (homeostatic) प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्या समाज में भी होती हैं? शरीर की तो आवश्यक आवश्यकताएँ होती हैं, क्या समाज की भी आवश्यकताएँ होती हैं? शरीर के तो अंग परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होते हैं, क्या समाज के भी अंग इसी प्रकार अन्तर्सम्बन्धित होते हैं बहुत दिनों तक इन प्रश्नों पर विवाद होता रहा है। प्रकार्यवादी विश्लेषण का सचेत प्रयास दुर्खीम, मालिनोवस्की और रेडक्लिफब्राउन ने किया है। इन्हीं सिद्धान्तकारों को प्रकार्यवाद की नींव डालने वाला स्वीकार किया जाता है।

दुर्खीम

उन्नीसवीं शताब्दी के जैविकी से दुर्खीम की सैद्धान्तिक अवधारणाएँ प्रभावित हुई थी। शरीर-संगठनवादियों की भाँति दुर्खीम की मान्यताएँ निम्नलिखित थीं–

(1) समाज एक यथार्थ है और ऐसा यथार्थ है जिसका अपना एक अलग ढंग (Sui-generis) है। समाज अपने अंगों से बना समूह है, परन्तु फिर भी उन अंगों से कुछ अधिक है। यदि समाज को सरल करके छोटा किया जाय तो वह अपने अंगों के बराबर नहीं होगा। यह है कि अंग जब संगठन का रूप ले लेते हैं तो उनका "संगठन" एक विशेष गुण धारण कर लेता है।

(2) दुर्खीम ने "सम्पूर्ण" या 'सामूहिकता" को विशेष स्थान दिया है। समूह के अंग तो पूरे समूह की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

(3) दुर्खीम समाज को ऐसी अवस्था मानता है जो दो प्रकार की विशेषताएँ रख सकता है। सामाजिक व्यवस्था या तो सामान्य (Normal) या विकृत (Pathological) अवस्था में होगी। यदि असामान्य या विकृत अवस्था से सामाजिक व्यवस्था को बचाना है तो उसकी प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं (functional-needs) की पूर्ति होनी चाहिये।

(4) यदि समाज व्यवस्था सामान्य और असामान्य होती है तो दुर्खीम के सिद्धान्त में यह तथ्य भी निहित है कि समाज का "सन्तुलन-बिन्दु" भी होता है जिसके निकट रहने पर ही व्यवस्था सामान्य रहती है। इस व्यवस्था से दूर हटने पर वह असामान्य हो जाती है।

दुर्खीम यह मानता है कि सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिये स्पर्द्धा को रोकना होगा। जब समाज में श्रम-विभाजन हो जाता है तो सभी लोग अपने विशेष कार्यों को स्वीकार कर लेते हैं और सामाजिक-व्यवस्था बनी रहती है। सामाजिक-व्यवस्था की दुर्खीम ने इतनी अच्छी व्याख्या की है कि उसकी दी हुई अवधारणाएँ "प्रकार्य" (function) शर्त (requisite) आवश्यकताएँ (needs), सामान्य (normal) और विकृत (pathological) आदि ने आने वाले प्रकार्य-वादियों की पीढ़ी को प्रभावित किया है।

प्रकार्यवाद की मानववैज्ञानिक परम्पराएँ

(Anthropological Traditions of Functionalism)

20वीं शताब्दी में प्रकार्यवाद के दो महत्त्वपूर्ण मानवशास्त्री रेडक्लिफब्राउन और मालिनोवस्की हुए हैं। दुर्खीम के शरीर-संगठनवाद से ये दोनों विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। जनजातीय समूहों के अध्ययन पर दोनों मानववैज्ञानिकों के सिद्धान्त आधारित हैं।

रेडक्लिफब्राउन (Radcliffe–Brown, 1881-1955)

प्रकार्यवाद के स्थान पर रेडक्लिफब्राउन संरचनावाद (structuralism) क संज्ञा अपनी विश्लेषण पद्धति को देना चाहता है। रेडक्लिफब्राउन ने इस बात का प्रयास किया कि शरीर-संगठन और समाज के सादृश्य को यथासम्भव समाप्त किया जाय। सामाजिक व्यवस्था में कोई उद्देश्य (teleology) कार्य करता है, इस अवधारणा को भी रेडक्लिफब्राउन अंगीकार करना चाहता था। अतः उसने सामाजिक व्यवस्था की "आवश्यकताओं" के स्थान पर व्यवस्था के "अस्तित्व की आवश्यक दशाएँ" (necessary conditions of existence) जोड़ना चाहा। उसके अनुसार मानव समाज की सार्वभौमिक आवश्यकताएँ नहीं होतीं, बल्कि हर समाज को जीवित रखने के लिए कुछ आवश्यक दशाएँ होती हैं। इन दशाओं या शर्तों को देखा समझा जा सकता है। विभिन्न व्यवस्थाओं के अस्तित्व के लिए विभिन्न प्रकार की दशाएँ होती हैं। रेडक्लिफब्राउन की कुछ सैद्धान्तिक मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) किसी भी समाज को जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अंगों में न्यूनतम संगठन हो। अर्थात् कम-से-कम मात्रा में अंगों का परस्पर संगठित होना अनिवार्य है।

(2) समाज के संगठन या उसके एकीकरण (integration) में जिन कार्यों से सहायता मिलती है उसे प्रकार्य (function) की संज्ञा दी जा सकती है।

(3) यह देखा और समझा जा सकता है कि किसी समाज की संरचना किसी प्रकार उसके संगठन को बनाये हुए हैं। दुर्खीम के समान रेडक्लिफब्राउन भी समाज को "अपने ढंग का यथार्थ" मानता है। रेडक्लिफब्राउन ने ऐसी अवधारणाओं की रचना की है जिनसे समाज के संगठन की पहचान हो सके।

स्वजन-सम्बन्ध के नियम और धार्मिक कर्मकाण्ड की अवधारणाओं से समाज के संगठन एवं एकता की व्याख्या हो सकती है। परिवार और स्वजन सम्बन्ध, समाज के लिये इसलिये आवश्यक हैं कि उनसे पैतृक सम्पत्ति और भूमि पर निरन्तर अधिकार बना रहता है और संघर्ष नहीं होते हैं। रेडक्लिफब्राउन यह नहीं निर्धारित कर सका कि सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखने के लिये संगठन की कितनी मात्रा होनी चाहिये। परन्तु वह इतना अवश्य मानता था कि समाज-व्यवस्था को बनाये रखने के लिये एकीकरण (integration) अत्यन्त आवश्यक है।

ब्रानिसलाव मालिनोवस्की (Malinowski, 1884–1942)

मालिनोवस्की का प्रकार्यात्मक विश्लेषण बहुत कुछ शरीर-संगठनवाद के निकट ही रहा। मालिनोवस्की की मुख्य मान्यता है कि मनुष्य की बुनियादी आव-

श्यकताओं की पूर्ति सांस्कृतिक तथ्यों द्वारा होती है। इस अवधारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी संस्कृति की प्रथाएँ, भौतिक वस्तु में और मूल्य तथा विचार समाज के संगठन को बढ़ाते हैं। यह अवधारणा उद्देश्यवादी (teleological) है। मालिनोवस्की के अनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक-व्यवस्था के लिये किस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है।

मालिनोवस्की का प्रकार्यवादी सिद्धान्त मानव-व्यवहारों का सरलीकरण करता है। वह यह मानकर चलता है कि भोजन, आवास और प्रजनन, मनुष्य की आवश्यक आवश्यकताएँ हैं। इनकी पूर्ति के लिए मानव जनसंख्या समूहों और समुदायों में विभाजित हो जाती हैं। प्रत्येक समूह की संस्कृति संगठन को चलाती है। इस प्रकार संगठन और संस्कृति से अनेक आवश्यकतायें जन्म लेती हैं। संस्कृति का स्वरूप निम्नलिखित तीन प्रकार से बनता है।

(1) जैविक आवश्यकतायें

(2) अर्जित मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें

(3) उपरोक्त दोनों आवश्यकताओं पर आधारित संस्कृति और संगठन बनाये रखने वाली आवश्यकतायें

संस्कृति द्वारा इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व (cultural item) पूरे समूह की उपयोगिता के लिये होता है। बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो सांस्कृतिक प्रतिक्रियायें (cultural reactions) होती हैं, उनकी तालिका निम्नलिखित है—

बुनियादी आवश्यकतायें और सांस्कृतिक प्रतिक्रियायें
(basic needs and cultural response)

बुनियादी आवश्यकतायें	सांस्कृतिक प्रतिक्रियायें
भोजन	पौष्टिक आहार की संरचनायें
प्रजनन	स्वजन-सम्बन्ध, पाठशालायें
शारीरिक सुख	शरण, आवास
सुरक्षा	हथियार, किलाबन्दी, सेनायें
गति	क्रियायें, क्रीड़ा
स्वास्थ्य	स्वच्छता, इलाज

उत्पन्न आवश्यकतायें एवं सांस्कृतिक प्रतिक्रियाये
(derived needs and cultural response)

उत्पन्न आवश्यकताएँ	सांस्कृतिक प्रतिक्रियाएँ
उत्पादन	आर्थिक व्यवस्था

सामूहिक क्रियाओं का संगठन	राजनैतिक संगठन
क्रियाओं का नियमन	सामाजिक नियन्त्रण, संरचनाएँ
सांस्कृतिक विरासत का संचार	शैक्षणिक व्यवस्था

उपरोक्त तालिकाओं को देखने से पता चलता है कि सांस्कृतिक तथ्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, परन्तु एक चक्रक तर्क भी उत्पन्न होता है—आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति और संस्कृति की पूर्ति के लिए आवश्यकताएँ होती हैं। इस तर्क से स्पष्ट होता है कि मालिनोवस्की का प्रकार्यवादी विश्लेषण भी उद्देश्यवादी है।

प्रकार्यवाद की समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के शरीर संगठनवाद (organicism) से प्रारम्भ होनेवाला प्रकार्यवाद कूंत, स्पेन्सर, दुर्खीम, रेडक्लिफब्राउन, मैलनोवस्की के योगदान से विकसित हुआ। आधुनिक समाजवैज्ञानिक प्रकार्यवाद में मैक्स वेबर के आदर्श-प्रारूप (ideal type) का भी विशेष स्थान है।

प्रारम्भिक प्रकार्यवादियों ने, समाज को पूर्ण व्यवस्था माना और सामाजिक आवश्यकता या 'शर्तों' के आधार पर, सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण किया। दुर्खीम और रेडक्लिफब्राउन ने सामाजिक एकीकरण पर अधिक जोर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक एकीकरण (integration) को इन प्रकार्यवादियों ने कारण मान लिया और इसी कारण के आधार पर समस्त सामाजिक गतिविधियों का विश्लेषण कर दिया। यदि सामाजिक एकीकरण को कारण मानते हैं तो यही एकीकरण समाज-व्यवस्था में निहित उद्देश्य (teleology) भी बन जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति से समाज-व्यवस्था जीवित रहती है।

प्रकार्यवादी विश्लेषण की परम्परा के सैद्धान्तिक बिन्दुओं का सारांश निम्नलिखित है--

1. सामाजिक जगत एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति पर ही समाज-व्यवस्था जीवित रहती है।

2. समाज-व्यवस्था में सन्तुलन (equilibrium) अन्तर्निहित हैं। इस सन्तुलन को बनाये रखने वाली क्रियाएँ सामान्य (normal) होती हैं और सन्तुलन को बिगाड़ने वाली क्रियाएँ, विकृत (pathological) या असामान्य होती हैं।

3. समाज-व्यवस्था परस्पर अन्तःसम्बन्धित अंगों का संगठन होती है। प्रकार्यवादी विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार आवश्यकताओं की

पूर्ति करते हुए, कोई अंग (parts) सम्पूर्ण व्यवस्था (whole) में योगदान देता है। इससे यह भी पता चलता है कि कौन से अंग सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने में सहायक और कौन से अंग बाधक सिद्ध होते हैं।

4. प्रकार्यवादी विश्लेषण सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के संगठन पर इतना बल देता है कि संगठन या एकीकरण 'कारण' का रूप ले लेता है। आलोचकों का कहना है कि इस बिन्दु पर पहुँचकर प्रकार्यवाद अस्पष्ट और रहस्यवादी हो जाता है।

प्रकार्यवादी विश्लेषण में पारसन्स और राबर्ट मर्टन का योगदान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। बिना उनके योगदान की समीक्षा किये हुए आधुनिक प्रकार्यवाद अधूरा है। अगले अध्यायों में इनके योगदान की समीक्षा की गयी है।

REFERENCE

H. L. Lehman, "R. K. Merton's Concept of Function and Functionalism", Sociological Inquiry 9 (1966).

D. Emmet, Function, Purpose and Powers, (London : Routledge-Kegan 1958).

Radcliffe-Brown', Structure and Function in Primitive Society–

Bronislaw Malinowski, A Scientific Theory of Culture and other Essays (London : Cxford University Press. 1964).

Harry C. Bredemeir, The Methodology of Functionalism", American Sociological Review 20 (April 1955).

Robert K. Merton, Social Theory and Social Structure, (Glencoe The Free Press, 1957).

टालकट पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत

(THEORY OF SOCIAL SYSTEM OF TALCOTT PARSONS)

पारसन्स और उपयोगितावाद (Parsons and utilitariarianism)

सन् १९३७ ई० में पारसन्स की पहली महत्त्वपूर्ण रचना 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' (The Structure of Social Action) प्रकाश में आयी। सामाजिक चिन्तन की इतनी अच्छी व्याख्या, इस पुस्तक से पहले नहीं की गयी थी। पारसन्स के सिद्धान्तों के बीज इसी पुस्तक से अंकुरित हुए। उपयोगितावाद की मान्यताओं का प्रभाव सामाजिक चिन्तन पर बना हुआ है। समाज-वैज्ञानिक सिद्धान्तकार उपयोगितावाद की मान्यताओं से समझौता करते रहे हैं। पारसन्स ने स्वतन्त्रता और अधिकांश नियन्त्रण में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। उपयोगितावाद की व्याख्या करना हमारे लिए यहाँ पर सम्भव नहीं है। मोटे तौर पर केवल इतना कहा जा सकता है कि उपयोगितावाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्षधर है और सामाजिक या राजकीय नियन्त्रण की मात्रा कम-से-कम करने के पक्ष में है। वही राज्य अच्छा है जो शासन कम-से-कम करे और व्यक्ति को स्वतन्त्रता अधिक-से-अधिक दे। इस सिद्धान्त के राजनीतिक-दार्शनिक और आर्थिक पहलू भी हैं। व्यापार और उपभोग पर कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए उपयोगितावादी दबाव डालने के पक्ष में नही हैं। उनकी ऐसी मान्यता है कि यदि समाज की आर्थिक शक्तियों को मुक्त छोड़ दिया जाय तो व्यवस्था अपने आप उत्पन्न हो जायेगी। पारसन्स के समय में उपयोगितावादी सिद्धान्त की मान्यताओं के आधार पर चलने वाले पश्चिमी समाज में दुष्परिणाम प्रकट होने लगे थे। अनियन्त्रित, मुक्त और असीमित वैयक्तिक स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप समाज की व्यवस्था में विघटन की प्रवृत्तियाँ उजागिर हो रही थीं। पारसन्स ही नहीं, बल्कि आज हर संवेदनशील सामाजिक-चिन्तन इन प्रवृत्तियों के दुष्परिणाम से चिन्तित हैं। जनतान्त्रिक व्यवस्था के लिए उपयोगितावादी मान्यताएँ अनिवार्य स्तम्भ हैं। जनतान्त्रिक व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता रहेगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति

रहेगी। व्यापार और मुनाफे का अधिकार रहेगा। व्यक्ति के मौलिक अधिकार रहेंगे। यदि ये सब रहेंगे तो समाज की व्यवस्था डावाँडोल होती रहेगी।

यदि इन पर नियन्त्रण लगाया जायेगा तो तानाशाही प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलेगा। वैयक्तिक सम्पत्ति और मौलिक अधिकारों में काट-छांट को स्वीकारा नहीं जा सकता। अतः हमारे युग का सबसे बड़ा द्वन्द्व (dilemma) यही है कि व्यक्ति स्वतन्त्र भी रहे और नियन्त्रित भी रहे। अपने प्रकार्यवादी सिद्धान्तों द्वारा पारसन्स ने इस द्वन्द्व के समाधान का प्रयास किया है।

पारसन्स का स्वेच्छावाद (Parsons concept of voluntarism)

पारसन्स के स्वेच्छावादी सिद्धान्त के विषय में हमारा तर्क यह है कि पारसन्स व्यक्ति को स्वेच्छा से कार्य करने की अनुमति तो देता है, परन्तु समाज स्वतन्त्रता के विकल्पों को कम करता है। दूसरे शब्दों में पारसन्स व्यक्ति को स्वतन्त्र करता है, परन्तु समाज को व्यक्ति पर बंधन लगाने के लिए तैयार करता है। "चोर से चोरी करने को कहता है और साहु को जगे रहने" को कहता है। समाज व्यक्ति को दबाने के लिए सतर्क रहे और व्यक्ति अपने इच्छाओं के चुनाव करने में स्वतन्त्र रहे। कुल मिलाकर व्यक्ति पर व्यवस्था इस कदर हावी होती है कि अमरीकी विचारक आज चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं कि हम स्वतन्त्र हैं, परन्तु व्यवस्था की चक्की में पिसे (मारक्यूज) जा रहे हैं। हम विशाल टेक्नॉलाजी का प्रयोग करके वातावरण को जहरीला बना रहे हैं तथा प्राकृतिक साधनों को समाप्त (शूमेकर) कर रहे हैं। टेक्नालाजी के कारण हम शून्यवाद (nihilism) की ओर अग्रसर हैं तथा हमारी संस्कृति और टेक्नालाजी से उत्पन्न व्यवस्था में, तालमेल (डेनियलबेल) नहीं है। किस-किस का जिक्र किया जाय। आज का गर्म समाजवैज्ञानिक आन्दोलन (Radical Sociology) पारसन्स ऐसे विचारकों पर पूंजीवादी व्यवस्था की 'जासूसी' करने का आरोप लगाता है। लोकविधि विज्ञान (Ethnomethodology) प्रकार्यवादी विश्लेषण की मान्यताओं को उखाड़ फेंकना चाहता है। यह आवाज भी बुलन्द है कि हमारी संस्कृति, और हमारा अभी तक का समाजविज्ञान, दोनों ही 'संकटग्रस्त' हो चुके हैं। इस आवाज में एक आवाज भारत के प्रो० ए० के० शरन की भी है, जिनके मतानुसार 'परम्पराओं का धरातल' छोड़ने से यह संकट बढ़ गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपयोगितावाद और स्वेच्छावाद का संश्लेषण करने में पारसन्स का सिद्धान्त, समकालीन आलोचकों के अनुसार सफल नहीं हुआ।

पारसन्स के स्वेच्छावाद का अर्थ यह है कि व्यक्ति या कर्ता (actor) दबावमुक्त होकर लक्ष्य प्राप्त करने के साधनों का चुनाव करता है। उसका

चुनाव निजी या स्वेच्छापूर्ण होता है। व्यक्ति के सभी व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होते हैं। व्यक्ति लक्ष्यों की प्राप्ति करना चाहता है। स्वेच्छापूर्ण निर्णय का आधार 'व्यक्ति के विचार' होते हैं। सामाजिक मूल्यों और सामाजिक प्रतिमानों (values or norms) के अनुसार व्यक्ति स्वेच्छा से लक्ष्यों, और लक्ष्यों तक पहुँचने के साधनों का, चयन करता है। इस सरल-सी बात की व्याख्या पारसन्स ने बड़े ही सूक्ष्म अवधारणाओं से किया है।

सामाजिक-क्रिया परिधि (action frame of reference)

पारसन्स के स्वेच्छावादी सिद्धान्त की व्याख्या सामाजिक-क्रिया परिधि के अंगों से होती है। कर्त्ता किस प्रकार लक्ष्य की ओर बढ़ता है, लक्ष्य किस स्थिति में है, लक्ष्य तक पहुँचने के कितने साधन हैं ? उन साधनों (विकल्पों) में से किसी एक का चयन स्वेच्छापूर्वक कैसे किया जाता है ? इन सभी समस्याओं का विश्लेषण; सामाजिक-क्रिया परिधि का विश्लेषण साथ ही पारसन्स के स्वेच्छावाद का भी विश्लेषण है। इस सन्दर्भ में, पारसन्स की मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

1. व्यक्ति ही कर्त्ता होता है।
2. कर्त्ता के सभी व्यवहार लक्ष्य-उन्मुख होते हैं।
3. लक्ष्य पूर्ति की वस्तु किसी स्थिति में होती है।
4. कर्त्ता और स्थिति में सार्थक सम्बन्ध को अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation) कहते हैं।
5. अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता के समय कर्त्ता के समक्ष नैतिक विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह क्या करे, और क्या न करें। इसका निर्णय कर्त्ता स्वेच्छापूर्वक करता है।

पूर्वोक्त सभी बिन्दुओं का विश्लेषण करने में पारसन्स की सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (social action) की मूलभूत अवधारणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। अतः पुनरावृत्ति को बचाते हुए और अनेक शब्दजालों से बचते हुए, हम सामाजिक-क्रिया का सरल विश्लेषण प्रेषित करेंगे।

कुछ उदाहरण लीजिये। एक कर्त्ता की यह इच्छा है कि वह छुट्टी के दिन मछली का शिकार करने जाये। मछली वह वस्तु है जिससे लक्ष्य की पूर्ति होगी। मछली किसी झील में, गहरे पानी में, पहाड़ियों से घिरे हुए वातावरण में होगी। इन सब बातों को स्थिति (situation) कहते हैं। वस्तु हमेशा स्थिति में होती है। मान लें कि झील तक पहुँचने के तीन रास्ते हैं। सबसे सुन्दर और मनोरम रास्ता सबसे लम्बा है। दूसरा रास्ता खतरनाक है। सबसे नजदीक का रास्ता उजाड़ है। कर्त्ता के समक्ष तीनों रास्ते विकल्प के रूप में उपस्थित हैं।

स्वेच्छा से वह इनमें से किसी एक का चयन करेगा। पारसन्स के अनुसार उसका चयन निजी और आन्तरिक निर्णय पर आधारित होगा।

कर्त्ता द्वारा लक्ष्य तक पहुँचने के रास्ते को सामाजिक क्रिया कहते हैं। यह आवश्यक है कि कुछ मुख्य पदों की व्याख्या कर दी जाय।

1. कर्त्ता (actor) मानव व्यक्ति होता है। अपने सन्दर्भ में कर्त्ता स्व (ego) होता है और दूसरे 'आल्टर' (alter) कहलाते हैं। दो या दो से अधिक कर्त्ता मिलकर सामूहिकता (collectivity) बनाते हैं। कर्त्ता 'व्यक्ति' भी हो सकता है और कर्त्ताओं का समूह (सामूहिकता) भी। 'कर्त्ता जो कुछ करता है' वह उसकी भूमिका (role) होती है। सामाजिक मानचित्र पर कर्त्ता कहीं-न-कहीं स्थित (locate) होता है, जिसे सामाजिक प्रस्थिति (social status) कहते हैं। अतः हर कर्त्ता की सामाजिक भूमिका और प्रस्थिति (role and status) होती है।

2. भूमिका की उन्मुखता (role orientation)

एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ता से, कुछ प्रत्याशाएँ रखता है। इन्हीं प्रत्याशाओं के अनुसार वे एक दूसरे के साथ पारस्परिक क्रिया करते हैं। भूमिका के इसी झुकाव को उन्मुखता कहते हैं। इसी प्रकार की उन्मुखता से सामाजिक संरचना बनती है।

3. लक्ष्य-पूर्ति की वस्तु (object)

जिससे लक्ष्य की पूर्ति हो, उसे पारसन्स की शब्दावली में, वस्तु (object) कहते हैं। पारसन्स के अनुसार समस्त वस्तुओं को केवल दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(अ) सामाजिक वस्तु (social objects) : व्यक्ति और व्यक्तियों का समूह (collectivity) सामाजिक वस्तुएँ हैं।

(ब) गैर-सामाजिक वस्तु (non-social objects) : व्यक्ति और सामूहिकता को छोड़कर संसार में जो कुछ भी है वह पारसन्स के अनुसार, गैर-सामाजिक वस्तु है। जैसे—प्राकृतिक वस्तुएँ, धर्म, कला, कर्मकाण्ड, वैचारिकी आदि। लक्ष्य की वस्तु व्यक्ति से बाहर हो सकती है, लेकिन कभी-कभी लक्ष्य की वस्तु व्यक्ति में ही निहित होती है। जैसे, अपना स्वास्थ्य बनाना, अपने को सच्चरित्र बनाना, अपने को सुन्दर बनाना। इस सन्दर्भ में, स्वास्थ्य, चरित्र और सुन्दरता, लक्ष्य की वस्तुएँ होते हुए, व्यक्ति से बाहर नहीं हैं। ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति स्वयं अपनी ही ओर उन्मुख होता है।

4. स्थिति (situation) : वस्तु किसी-न-किसी स्थिति में होती है। स्थिति की दशाएँ कर्त्ता की क्रिया को प्रभावित करती हैं। आत्महत्या करने के लिए कोई व्यक्ति कम ऊँची पहाड़ी से यदि छिछले पानी में कूद पड़े तो सम्भवतः उसकी मृत्यु नहीं होगी। इसका कारण लक्ष्य की दिशाएँ हैं।

5. अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation)

कर्त्ता और वस्तु के सार्थक सम्बन्ध को उन्मुखता कहते हैं। इच्छा या प्रेरणाओं से प्रेरित होकर व्यक्ति वस्तु की ओर बढ़ता है। पारसन्स ने उन्मुखता की बड़ी ही सूक्ष्म व्याख्या तीन निम्नलिखित स्तरों पर की है। एक व्यक्ति सुनसान मार्ग पर चला जा रहा है। रास्ते में उसे एक चमकदार वस्तु दिखाई पड़ती है। ध्यान से देखने पर वह पहचानता है कि यह सोना है, फिर उसमें सोने को प्राप्त करने की या उसे त्याग देने की इच्छा जागृत होती है। वह उसे उठाने के लिए हाथ बढ़ाता है और तभी उसके मन में यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है कि उसका यह कार्य नैतिक दृष्टि से उचित है या अनुचित। उपरोक्त उदाहरण से उन्मुखता के तीनों स्तर प्रकट होते हैं जो इस प्रकार हैं :

(अ) **संज्ञानात्मक** (the cognitive) उन्मुखता के इस स्तर पर कर्त्ता वस्तु के प्रति केवल जानकारी प्राप्त कर पाता है। वह केवल इतना जानता है कि "यह क्या है !" इस स्तर पर वह तटस्थ रहता है।

(ब) **रागात्मक** (the cathectic) : इस स्तर पर कर्त्ता में वस्तु के प्रति अनुराग, भावना, इच्छा आदि जागृत हो जाती हैं। वह तटस्थ नहीं रहता। वस्तु की ओर या तो वह आकर्षित होता है या विकर्षित होता है।

(स) **मूल्यात्मक** (the evaluative) : इस स्तर पर कर्त्ता वस्तु और अपनी इच्छाओं के प्रति, उहापोही करता है, उसके हर पक्ष का विश्लेषण करता है तथा नैतिक निर्णय लेता है। नैतिक निर्णय को पारसन्स उन्मुखता का विशेष स्तर मानता है।

संरूपित परिवर्त्य (pattern-variables)

कर्त्ता के समक्ष उपस्थित होने वाले विकल्पों के दो स्रोत होते हैं। नैतिक द्वन्द्वों (dilemma) का स्रोत कर्त्ता स्वयं होता है। अन्य विकल्पों के स्रोत वस्तुएँ होती हैं। कर्त्ता अपना विवाह अपनी मर्जी से करे या परिवार के सदस्यों की मर्जी से करे। ऐसे नैतिक विकल्प **कर्त्ता के अन्तर्तम में उत्पन्न होते हैं**। इन्हें नैतिक विकल्प (moral-dilemmas) कहते हैं। कर्त्ता यदि दूकानदार से एक घड़ी खरीदने जाय और दूकानदार घड़ी की प्रशंसा में दो बातें कहे कि यह घड़ी

अत्यन्त सुन्दर है, परन्तु अधिक दिन टिकाऊ नहीं है। इस स्थिति में **वस्तु की ओर से** कर्त्ता के समक्ष दो विकल्प उत्पन्न हुए। वह घड़ी की सुन्दरता पर जाये या उसके टिकाऊपन पर जाये। इस प्रकार के विकल्पों को **वस्तु की प्रकारता** (object modalities) कहते हैं। पारसन्स के संरचित परिवर्त्यों में से प्रथम तीन नैतिक विकल्प कहे जाते हैं और अन्तिम दो विकल्पों को वस्तु प्रकारता कहते हैं।

(1) अनुशासन मुक्ति बनाम अनुशासनबद्धता
(affectivity vs. affective neutrality)

कर्त्ता जब किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित होता है तो उसके समक्ष पहला विकल्प यह उत्पन्न होता है कि—

(अ) कर्त्ता नियमों से मुक्त होकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करे, या

(ब) कर्त्ता नियमबद्ध होकर आवश्यकता की पूर्ति करे।

यदि वह नियममुक्त होकर लक्ष्य की ओर बढ़ेगा तो वह समाज के सभी नियमों से विमुख हो जायेगा और गैर-सामाजिक (non-social) प्राणी बन जायेगा। उसके समक्ष फिर कोई दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होगा। इस विकल्प को अपनाने वाले कर्त्ता का व्यवहार पशु के समान होगा जो अपनी भूख या कामवासना की तृप्ति के लिये अनुशासनमुक्त (affectivity) होकर व्यवहार करता है। अनुशासनबद्धता या नियमबद्धता (affective-neutrality) का विकल्प अपनाने वाला कर्त्ता समाज के नियमों या अनुशासन को स्वीकारता है। वह सामाजिक प्राणी होता है और ऐसे ही कर्त्ता के समक्ष दूसरे नैतिक विकल्प उपस्थित होते हैं। अतः पारसन्स के अनुसार, इच्छाओं से प्रेरित कर्त्ता के समक्ष पहला विकल्प तो यह बुनियादी प्रश्न उत्पन्न करता है कि वह अनुशासनमुक्त रहेगा या अनुशासनबद्ध रहेगा। व्यावहारिक जगत् में इस प्रकार का विकल्प विरले ही उत्पन्न होता है। इसलिये कुछ आलोचकों ने पहले उभयतोपाश (dilemma) जोड़े को खोखला बताया है।

(2) स्वहित बनाम परहित (सामूहिक-हित) (self vs. collectivity)

विकल्पों का यह जोड़ा हितों के विस्तार का विकल्प उपस्थित करता है। कर्त्ता के समक्ष दो विकल्प होते हैं—

(अ) कर्त्ता केवल अपने हित में कार्य करे, या

(ब) कर्त्ता दूसरों के हित में कार्य करे।

यदि कर्त्ता केवल अपने हित में कार्य करेगा तो दूसरों की हितों की उपेक्षा करेगा। अगर दूसरों के हित के अनुसार कार्य करेगा तो अपने हित को त्याग देगा। जैसे, कर्त्ता यदि अपनी मर्जी (self) से विवाह करेगा तो परिवार

(collectivity) के हित की परवाह नहीं करेगा। यदि परिवार के इच्छानुसार विवाह करेगा तो उसे अपने हित का बलिदान करना पड़ेगा। कर्त्ता को इन दो विकल्पों में से किसी एक का चयन करना पड़ेगा।

(3) सार्वलौकिकवाद बनाम विशिष्टवाद (universalism vs. particularism)

यह मूल्यों के विस्तार का विकल्प है। कर्त्ता के समक्ष यह उभयतोपाष इस प्रकार उत्पन्न होता है—

(अ) वह ऐसे मूल्यों के अनुसार कार्य करे जो सार्वलौकिक या सबके लिए समान हों, या

(ब) वह ऐसे मूल्यों के अनुसार कार्य करे, जो केवल उसके हित में हों या उसके मित्रों, देशवासियों अथवा केवल कुछ के हित में हों। मान लें किसी स्कूल में आग लग जाती है और प्रधानाचार्य को यह कहते सुना जाता है कि "मेरा बेटा कहाँ है?" यह विशिष्ट मूल्य का विकल्प है। यदि प्रधानाचार्य को यह कहते सुना जाय कि स्कूल के "सारे बच्चे कहाँ हैं," यह सार्वभौमिक मूल्य का विकल्प है।

(4) अर्जित बनाम आरोपित (achievement vs. ascription)

सामाजिक कर्त्ता में दो प्रकार के गुण होते हैं। पहला, ऐसे गुण जिन्हें वह अर्जित करता है। दूसरे ऐसे गुण जिन्हें वह जन्म, लिंग, धर्म, जाति आदि के आधार पर अपने ऊपर आरोपित पाता है। जैसे "भारतीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति जाति है, व्यक्ति कोई नहीं।" प्रत्येक हिन्दू के ऊपर उसका जातिगत गुण आरोपित है। अपनी बुद्धि, योग्यता, कार्यदक्षता के कारण व्यक्ति जिन गुणों को अर्जित करता है, वे उस पर किन्हीं सामाजिक अथवा प्रजातीय कारणों से आरोपित नहीं होते। कर्त्ता जब किसी वस्तु (वस्तु दूसरा कर्त्ता भी हो सकता है) की ओर उन्मुख होता है तो उसके समक्ष वस्तु के गुणों को लेकर दो विकल्प उपस्थित होते हैं-(अ) कर्त्ता वस्तु से अर्जित गुणों को प्रधानता दे, या (ब) कर्त्ता वस्तु पर आरोपित गुणों को श्रेय दे। इन विकल्पों को कार्य-सम्पादन (performance) या गुण (quality) के आधार पर भी समझा जाता है। "कोई वस्तु किस तरह से कार्य करती है," इसको प्रधानता दिया जाय या केवल यह देखा जाय कि उसमें 'निहित गुण क्या-क्या हैं'। कोई व्यक्ति अच्छे परिवार में जन्मा अच्छी सूरत-शकल वाला और धनवान हो सकता है, परन्तु पति की भूमिका में अत्यन्त असफल हो सकता है। भारतीय समाज में लोग आरोपित गुणों को विशेष महत्व देते हैं। व्यक्ति के अर्जित गुणों को गौण समझते हैं।

(5) सम्पूर्ण बनाम अंश (diffuseness vs. specificity)

विकल्पों का यह जोड़ा व्यक्ति में रुचि लेने की मात्रा से सम्बन्धित है। कर्त्ता अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करते समय वस्तु में रुचि लेगा, उसके दो विकल्प हैं–(अ) कर्त्ता वस्तु के सभी पक्षों अथवा सम्पूर्ण में रुचि ले, या (ब) कर्त्ता वस्तु के किसी विशेष अंश तक ही अपनी रुचि सीमित रखे। माँ की रुचि अपने बच्चे के सम्पूर्ण अस्तित्व और उसके जीवन के हर पक्ष से होती है। रुचि का यह स्तर सम्पूर्ण में रुचि (diffuseness) का विकल्प है। वकील अपने मुवक्किल के केवल उतने ही अंश में रुचि लेता है, जितना कि उसके मुकदमें के लिए जरूरी है। रुचि की इस सीमा को सीमित रुचि (specificity) कहते हैं। वर्तमान नगरीय जीवन में लोग एक दूसरे के सम्पूर्ण अस्तित्व में रुचि नहीं ले पाते हैं। वे एक दूसरे में सीमित रुचि रखते हैं।

पारसन्स के पाँचों संरूपित विकल्पों में से सार्वलौकिकवाद बनाम विशिष्टवाद (universalism vs. particularism) का महत्त्व बढ़ गया है और स्व-हित बनाम परहित (self vs. collectivity) का महत्त्व घट गया है। संरूपित परिवर्त्य का उद्देश्य विकल्पों को द्विवर्गाश्रित विभाजन में रखना, मूल्यों के विकल्पों को दो जोड़ों में रखना है। व्यक्ति जैसे विकल्प चुनता है, वैसे ही उसकी भूमिका होती है। विकल्पों के चयन के अनुसार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के गुण बन जाते हैं। पारसन्स के ये विकल्प समाज, संस्कृति और व्यक्तित्व तीनों पर लागू होते हैं। जैसे-जैसे समाज औद्योगिक होता जाता है, वैसे-वैसे वह अनुशासित, स्वहितवादी, सार्वलौकिकतावादी, अर्जितगुणवादी और विशिष्टवादी होता जाता है।

कर्त्ता द्वारा लक्ष्य तक पहुँचने की प्रक्रिया सामाजिक क्रिया है। इस प्रक्रिया के विश्लेषण में कर्त्ता, स्थिति-में-वस्तु और मूल्य-विकल्पों का अवधारणात्मक विश्लेषण सम्मिलित है। यह सम्पूर्ण विश्लेषण प्रक्रिया, पारसन्स के सामाजिक-क्रिया की परिधि (action frame of reference) के अन्तर्गत आती है।

सामाजिक-व्यवस्था (social system)

पारसन्स समाज को व्यवस्था मानता है। व्यवस्था एक प्रकार का गुण है जो किसी संगठन में उत्पन्न होता है यदि किसी संगठन के अंग इस प्रकार अन्त-संबन्धित हों कि किसी एक अंग का प्रभाव पूरे संगठन पर पड़े और पूरे का प्रभाव, किसी अंग पर पड़े तो उसे व्यवस्था कहते हैं। अंश और सम्पूर्ण का ऐसा सम्बन्ध कि अंश का प्रभाव सम्पूर्ण पर, और सम्पूर्ण का प्रभाव अंश पर पड़े तो, व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। समाज के अंग इसी प्रकार के संगठन से जुड़े हुए हैं। यदि कारखाना बन्द हो जाय तो मजदूर का परिवार संकटग्रस्त हो जायेगा।

कारखाने के आस-पास व्यापार मन्दा पड़ जायेगा। एक इकाई में व्यवधान उत्पन्न होने से अन्य इकाइयों में भी व्यवधान उत्पन्न होने लगता है। इकाइयों के परस्पर प्रभाव की परस्पर अदला-बदली से समाज 'व्यवस्था' का रूप लेता है, पारसन्स ने इसे अन्तर्गामी तथा निर्गामी (input-output) सम्बन्ध बताया है। अन्तर्गामी और निर्गामी प्रभाव किसी माध्यम से अदला-बदला जाता है। जैसे, मुद्रा के माध्यम से वस्तुओं का लेन-देन होता है। कारखाना परिवार को मजदूरी-भुगतान के माध्यम से प्रभावित करता है। परिवार, श्रमिक (श्रम) भेजकर, कारखाने को प्रभावित करता है। यहाँ 'मजदूरी' और 'श्रम' अदला-बदली के माध्यम हैं। समाज की सभी इकाइयाँ एक दूसरे से इसी तरह अदला-बदली के सम्बन्धों से जुड़कर, व्यवस्था बनाती हैं। पारसन्स की व्याख्या प्रकार्यवादी व्याख्या है। अतः समाज-व्यवस्था कैसे संगठित रहती है ? इसका उत्तर देने में पारसन्स ने सामाजिक-व्यवस्था का जो प्रकार्यात्मक सिद्धान्त दिया है, वह प्रकार्यवादी परम्परा के अनुकूल है।

पारसन्स का प्रकार्यवाद

व्यवस्था के रूप में समाज तभी तक चल सकता है जब तक इसमें संगठन और सन्तुलन बना रहे। उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। समाज-व्यवस्था निरन्तर चलती रहने वाली अथवा जीवित रहने वाली घटना है। अतः पारसन्स के समाज-व्यवस्था की मुख्य समस्या निम्नलिखित है—

(अ) सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत शर्तें (pre-requisites) क्या हैं ?

(ब) समाज व्यवस्था में इन शर्तों की पूर्ति कैसे होती है ?

इन दो प्रश्नों के उत्तर में पारसन्स ने सामाजिक-व्यवस्था का प्रकार्यात्मक (functional) सिद्धान्त प्रस्तावित किया है।

सामाजिक व्यवस्था के पूर्व-प्रतिबन्ध या शर्तें (pre-requisites of social system)

सामाजिक व्यवस्था के निरन्तर चलते रहने के लिए कुछ शर्तों या पूर्व-प्रतिबन्धों का पूरा होना आवश्यक है। पारसन्स ने जो पूर्व प्रतिबन्ध बताये हैं, उन्हें हम दो वर्गों में रख सकते हैं।

(1) यह आवश्यक है कि समाज-व्यवस्था के सदस्यों की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति, सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुकूल होना चाहिए। आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद सदस्यों को इतनी फुर्सत होनी चाहिए कि वे समाज के सहभागी हो सकें।

(2) सामाजिक व्यवस्था के चलने के लिए यह भी आवश्यक है कि सदस्य सामाजिक प्रतिमानों (social norms) के अनुकूल व्यवहार करते रहें। इस प्रकार, वे समाज को व्यवस्थित रखने में सहयोग देते हैं। अधिकांश सदस्यों को अपनी भूमिका के अनुकूल आचरण करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विघटनकारी और तोड़-फोड़ की क्रियाओं से दूर रहना चाहिए।

समाज-व्यवस्था के चार अन्य पूर्वप्रतिबन्ध (four survival problems of social system)

सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त को और प्रखर करते हुए पारसन्स ने चार समस्याओं की अवधारणा बनायी है। व्यवस्था को जीवित रखने के लिए इन चारों की पूर्ति आवश्यक है। अतः प्रकार्यवादी विश्लेषण के अन्तर्गत ये चारों समस्याएँ भी पूर्वप्रतिबन्ध के समान हैं। पारसन्स ने अपनी पुस्तक "सोशल सिस्टम" (Social System) में इन समस्याओं के प्रति संकेत किया है। उस पुस्तक में भूमिकाओं के विभेदीकरण (differentiation of roles) के अन्तर्गत इनका उल्लेख किया गया है।

1. समायोजन (Adaptation)
2. लक्ष्य-पूर्ति (Goal-attainment)
3. संकुलन (Integration)
4. संरूप-अनुरक्षण (Latency)

समायोजन (A = Adaptation)

समायोजन उप-व्यवस्था के अन्तंगत वे सभी प्रकार्य आते हैं, जिनके द्वारा सदस्यों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। आवश्यकताएँ अनन्त हैं और साधन सीमित हैं। सामाजिक-व्यवस्था का यह कार्य है कि सीमित साधनों से, अधिक-से-अधिक सदस्यों की, अधिक-से-अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये। समस्त प्राकृतिक एवं भौतिक साधनों का उपयोग समायोजन होता है। पारसन्स इस उप-व्यवस्था को अर्थ-तंत्र (the economy) की संज्ञा भी देता है।

लक्ष्य-पूर्ति (G = Goal-attainment)

समाज-व्यवस्था के कुछ लक्ष्य होते हैं। साधनों को लक्ष्य की पूर्ति में लगाना तभी सम्भव है जब शक्ति का प्रयोग किया जाय। राज्य की संस्था शक्ति का प्रयोग करती है। पारसन्स इस व्यवस्था के राज-तन्त्र (polity) की संज्ञा देता है।

संकुलन (I = Integration)

समाज-व्यवस्था में अनेक उपव्यवस्थाएँ होती हैं। अर्थ-व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, शैक्षणिक व्यवस्था, सैन्य-व्यवस्था आदि उप-व्यवस्थाओं का परस्पर ऐसा संकुलन होना चाहिए कि सभी मिलकर समाज व्यवस्था को चलाने में सहायक हों। अतः सभी उप-व्यवस्थाओंको एकसूत्र में बाँधे रहने का कार्य संकुलन कहलाता है।

संरूप-अनुरक्षण (L = Latency)

समाज व्यवस्था गतिमान रहती है। उसमें तरह-तरह के तनाव और विचलन की प्रवृत्तियाँ उभरती रहती हैं। व्यवस्था तभी चल पावेगी जब कि इन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखा जाये। समाज व्यवस्था की ओर से यह प्रयास किया जाता है कि सदस्यों की इच्छाएँ यथार्थ की सीमा से अधिक न होने पायें। अतः सांस्कृतिक मर्यादाओं के अन्तर्गत ही सदस्यों की इच्छाओं को सीमित रखना (pattern-maintenance) समाज-व्यवस्था का कार्य है।

पूर्वोक्त चारों प्रकार्यात्मक समस्याओं का समाधान करना समाज-व्यवस्था का प्रकार्य है। व्यवस्था के रूप में समाज तभी तक चल सकता है, जब तक इन चारों पूर्व-प्रतिबन्धों की पूर्ति होती रहे।

संकुलन एवं नियंत्रण (Integration & Control)

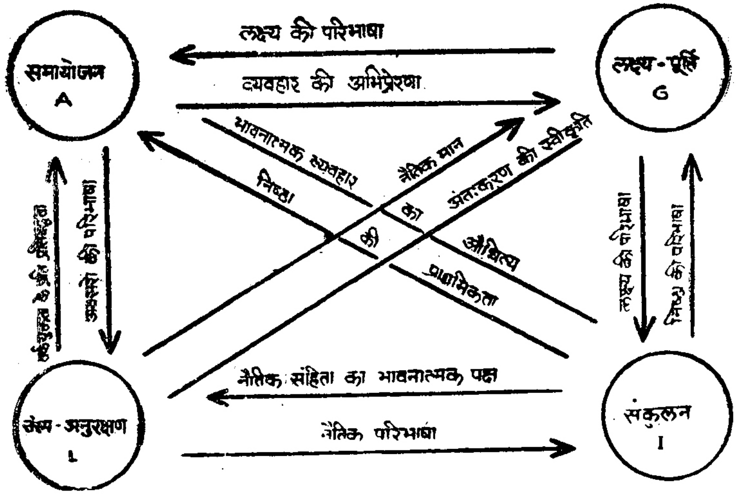
पारसन्स के सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त की केन्द्रीय समस्या एकीकरण (संकुलन) है। समाज-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न नहीं होना चाहिए। परिवर्तन की प्रक्रिया भी ऐसी नहीं होनी चाहिए कि उनसे विघटन उत्पन्न हो जाये। प्रतिदिन के विघटनकारी व्यवहारों पर भी नियन्त्रण रखना चाहिए। यह सभी समस्याएँ सामाजिक-नियन्त्रण के अन्तर्गत आती हैं। विचलन और नियन्त्रण की समस्याएँ समाजीकरण के प्रारम्भिक काल से आरम्भ होकर जीवन भर चलती रहती हैं। सामाजिक-व्यवस्था के सन्दर्भ में इन्हें निम्नलिखित के सन्दर्भ में समझा जा सकता है—

1. समाजीकरण (socialisation)
2. संस्थात्मीकरण (institutionalisation)
3. सामाजिक नियन्त्रण (social-control)

उपर्युक्त तीनों ही प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं। सदस्य की भूमिका का स्पष्टीकरण संस्थाएँ करती हैं। कर्म-काण्डीय व्यवहार और विश्वास पद्धतियों से सांस्कृतिक प्रतिमानों को लागू किया जाता है। विचलनकारी प्रवृ-

त्तियों को, समाज-व्यवस्था से, इस विधि से निकाला जाता है कि उनसे क्षति न पहुँचे। इस विधि को सेफ्टी वाल्व (safety-valve) कहते हैं।

सामाजिक-व्यवस्था में एकीकरण की व्याख्या पारसन्स ने एक और स्तर पर भी की है। पूर्वोक्त चारों उप-व्यवस्थाओं में (A, G, I, L) परस्पर सम्बन्ध होता है। इनमें अन्तर्सम्बन्ध का आधार विनिमय (exchange) है। जैसे ग्राहक और दूकानदार के बीच विनिमय का माध्यम मुद्रा है, उसी तरह इन उप-व्यवस्थाओं में भी विनिमय के माध्यम (medium of exchange) हैं। निम्नांकित तालिका में इसे दिखाया गया है।



प्रभावकारकों के रूप में प्रत्येक उप-व्यवस्था एक दूसरे से अन्तःसम्बन्धित हैं। इनके परस्पर सम्बन्ध अन्तर्गामी-निर्गामी विनिमय पर आधारित हैं। इस प्रकार के अन्तर्सम्बन्धों के दो परिणाम निकलते हैं। पहला, समाज संगठित होकर व्यवस्था का रूप लेता है। दूसरा, समाज व्यवस्था नियन्त्रित होती है।

सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन

पूर्वोक्त चारों उप-व्यवस्थाओं के अन्तर्सम्बन्धों में यदि परिवर्तन होने लगता है तो पूरी समाज-व्यवस्था भी परिवर्तित होने लगती है। पारसन्स सामाजिक-स्थिरता का सिद्धान्तकार है। परिवर्तन पर विशेष ध्यान पारसन्स ने बाद में दिया। अपनी पुस्तक सोशल सिस्टम (Social System) में पारसन्स ने 'परिवर्तन' और 'प्रक्रिया' में अन्तर किया है। परिवर्तन के अभाव में भी समाज में प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, मगर परिवर्तन बिना प्रक्रियाओं के नहीं होता। सामाजिक-व्यवस्था के सन्तुलन के भंग होने से परिवर्तन की समस्या उत्पन्न होती

है। पारसन्स ने परिवर्तन के दो स्वरूप बताये हैं। पहला, परिवर्तन प्रक्रिया चलती रहती है, परन्तु व्यवस्था बनी रहती है। दूसरा, सामाजिक व्यवस्था का ही परिवर्तित हो जाना। पारसन्स ने परिवर्तन के कुछ कारक भी बताये हैं:

1. व्यवस्था में व्यापक असन्तोष।
2. अशान्ति के लक्षणों का प्रकट होना।
3. तनाव को सम्हालने का प्रत्यक्ष प्रयास करना।
4. परिवर्तन की गतिशक्ति बढ़ाने वाली नयी विचारधाराओं का प्रसारण होना।
5. नये विचारों को वास्तविक स्वरूप देने का प्रयास करना।
6. नये विचार, नये व्यवहार, नये लक्ष्य और नये आविष्कारों का लागू करना। इसे नवोनीकरण कहते हैं।

नवीनीकरण को समाज में स्वीकृति दिलाने से प्रत्येक परिवर्तन की घटना में संस्थागत दृढ़ता की संरचना टूटती है और समाज में तनाव उत्पन्न होता है। नये विचारों को कुछ महत्त्वपूर्ण लोग अपनाते और प्रसारित करते हैं। धीरे-धीरे परिवर्तन का प्रभाव समाज में स्थिर हो जाता है। कुछ दिनों बाद स्वार्थ-निहित समूह असन्तोष फैलाते हैं और फिर परिवर्तन की पूर्वोक्त प्रक्रिया चल निकलती है। हाल के प्रकाशित कुछ लेखों में पारसन्स ने परिवर्तन के विकास-वादी सिद्धान्त का समर्थन किया है। पारसन्स ने स्पेन्सर के पुराने विचारों को नया रूप दिया है। दुर्खीम का प्रभाव भी पारसन्स पर प्रगट होता है। स्पेन्सर के उद्विकासवादी सिद्धान्त के समान, पारसन्स ने भी उद्विकास की प्रक्रिया (process of evolution) के निम्नलिखित लक्षण बताये हैं।

1. सामाजिक-व्यवस्था का विभेदीकरण होना। विभेद से उत्पन्न इकाइयों का प्रकार्यों का एक-दूसरे पर निर्भर होना।

2. उद्विकास के साथ एकीकरण के नये नियमों और उपायों का लागू होना।

3. विभेदीकृत व्यवस्था का अपने परिवेश से नया सामंजस्य स्थापित करते हुए जीवित रहने की क्षमता को बढ़ाना।

परिवर्तन को उद्विकास के रूप में रखते हुए पारसन्स यह प्रमाणित करना चाहता है कि समाज-व्यवस्था, बिना भंग हुए भी, परिवर्तित हो सकती है।

पारसन्स के प्रकार्यवाद की समालोचना

सन् 1960 के आस-पास आलोचकों ने पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न-चिह्न लगाना प्रारम्भ कर दिया। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया कि

पारसन्स जिस सामाजिक-व्यवस्था की अवधारणा प्रस्तावित करता है, क्या वह 'वास्तविक' जगत् में पायी जाती है ? पारसन्स का दावा है कि व्यवस्था संबन्धी उसकी अवधारणाएँ वास्तविक भी हैं। परन्तु डेहरन्डार्फ ने पारसन्स के प्रकार्यवादी विश्लेषण को 'स्वप्न-चिन्तन' (utopia) बताया है। उसके अनुसार पारसन्स की अवधारणाएँ बताती हैं कि—

(अ) समाज-व्यवस्था का कोई ऐतिहासिक विकास नहीं है।

(ब) समाज-व्यवस्था में मूल्यों और प्रतिमानों पर मतैक्य (consensus) है, इसलिए यह संगठित है।

(स) समाज-व्यवस्था का सिद्धान्त **यथा-स्थिति** (status-quo) के उपायों को बताता है।

समाज व्यवस्था की ऐसी परिकल्पना 'सन्तुलन' पर अत्यधिक बल देती है। पारसन्स 'क्रान्ति' के स्थान पर 'उद्‌विकास' को महत्त्व देता है।

REFERENCES

Parsons, Structure of Social Action.

Parsons, The Social System, New York, Free-Press, 1951.

Parsons, Robert F. Bales, and Edward A. Shils, Working Papers in the Theory of Action, Glencoe, III, Free-Press, 1953.

Talcott Parsons and Neil J. Smelser, Economy and Society. New York : Free-Press, 1956.

राबर्ट मर्टन : मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त

(ROBERT MERTON : MIDDLE-RANGE THEORY)

प्र कार्यवादी विश्लेषण में मर्टन का योगदान

(Merton's contribution to functional analysis)

मर्टन को हम एक ऐसा समाजवैज्ञानिक कहेंगे जो तथ्यों के अतिरिक्त किसी दूसरी बात पर निर्भर नहीं होना चाहता। पारसन्स का समाज-व्यवस्था का सिद्धान्त मर्टन के लिए मात्र 'सामाजिक दर्शन' है। तथ्यगत जीवन उससे मेल नहीं खाता है। पारसन्स की आलोचना करते हुए मर्टन ने पूर्ववर्ती प्रकार्यवादियों की स्थापनाओं की भी कड़ी आलोचना की है। वे जो कुछ कहते हैं, उसका तथ्यगत प्रमाण क्या है? क्या उनकी अवधारणाएँ प्रतिदिन के जीवन के तथ्यों से मेल खाती हैं? क्या सचमुच सामाजिक-व्यवस्था एकीकरण (integration) पर केन्द्रित है? यदि एकीकरण सामाजिक-व्यवस्था का मूल आधार है तो उसकी मात्रा क्या है? क्या सामाजिक-व्यवस्था पूर्व प्रतिबन्धों (pre-requisites) को पूरा किये बिना जीवित नहीं रह सकती? क्या समाज की हर सांस्कृतिक घटना या संरचना सामाजिक एकीकरण में सहयोग देती है? मर्टन ने इन प्रश्नों को उठाकर पूर्ववर्ती प्रकार्यवादी विश्लेषण की कुछ स्थापनाओं को नकारा है। उनको नकारते हुए मर्टन ने प्रकार्यवादी विश्लेषण की पद्धति में कुछ पैराडाइम (paradigms) जोड़े हैं और मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्तों (middle-range theories) का निर्माण किया है।

सामाजिक जगत् जैसा प्रतीत होता है, उसे वैसा ही प्रस्तुत करना चाहिए। समाज के विषय में जब तक पर्याप्त आँकड़े एकत्रित न हो जायँ तब तक पारसन्स के समान, महान् सिद्धान्त (grand theory) बनाना उचित नहीं है। मर्टन का तर्क यह है कि जब तक समाजविज्ञान की अनुसंधान पद्धति बहुत विकसित नहीं हो जाती, तबतक हमें मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त बनाना चाहिए। भौतिकी के माडल (physics-model) पर समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त अभी नहीं बनाये जा सकते। वैज्ञानिक सिद्धान्त केवल प्राकृतिक विज्ञानों की थाती नहीं है। अपनी सीमाओं के अन्तर्गत, समाजविज्ञान में भी वैज्ञानिक सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं।

सिद्धान्त ऐसे बनाने चाहिए जिनका निष्कर्ष, उनसे भी व्यापक सैद्धान्तिक निष्कर्षों से मेल खाता हो। प्रतिदिन की जीवन की समस्याओं पर मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्तों को बनाकर उन्हें अतिव्यापक सिद्धान्तों के प्रकाश में देखा जा सकता है। सामाजिक विघटन की व्यापक प्रक्रिया (जिस पर अनेक सिद्धान्तकारों ने मत व्यक्त किये हैं) के अन्तर्गत रखकर मर्टन के आदर्शशून्यता (social-anomie) के सिद्धान्त को परखा जा सकता है। ऐसा करने की विधि भी मर्टन ने प्रकार्यात्मक शब्द-रूपावली (functional paradigms) द्वारा बताया है। मर्टन के हाथों में प्रकार्यवाद, एक प्रकार की कार्यविधिकी बन गया है। सामाजिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण और अमहत्त्वपूर्ण का भेद करते हुए मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त बनाने का प्रयास किया गया है।

मर्टन ने प्रकार्यवाद को तीन प्रमुख स्थापनाओं में अपना योगदान किया है—

(अ) सामाजिक-व्यवस्था की प्रकार्यात्मक एकता (the functional unity of social system)

(ब) सामाजिक घटनाओं की प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता (the functional universality of social items)

(स) सामाजिक-व्यवस्था के लिये प्रकार्यात्मक घटनाओं की अनिवार्यता (the indispensability of functional items for social system)

मर्टन यह नहीं मानता कि सामाजिक-व्यवस्था में एकता होती ही है। यदि ऐसा मानकर चले तो समाज की एकता भंग करने वाली बहुत सारी घटनाओं की उपेक्षा हो जायेगी। रेडक्लिफब्राउन, दुर्खीम और पारसन्स के समान, सामाजिक-व्यवस्था की एकता को, मर्टन मानकर नहीं चलता है। अगर सामाजिक व्यवस्था में एकता है तो उसे तथ्यगत प्रमाणों के आधार पर देखा जा सकता है। एकता के स्तर को समझा जा सकता है। अगर एकता को मानकर चलेंगे तो विविधता और विघटनकारी तत्त्वों का विश्लेषण नहीं हो पायेगा।

मर्टन यह नहीं मानता कि समाज की सभी घटनाएँ व्यवस्था की एकता के लिए आवश्यक हैं। मालिनोवस्की ऐसा मानकर चलता है कि प्रत्येक रीति-रिवाज, प्रत्येक भौतिक वस्तु, प्रत्येक विचार और विश्वास सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत मर्टन **दो** बातों पर जोर देता है। **पहला,** घटनाएँ केवल प्रकार्यात्मक ही नहीं होतीं, बल्कि अकार्यात्मक (dysfunctional) भी होती हैं। **दूसरा,** सामाजिक घटनाओं के कुछ परिणाम ऐच्छिक और प्रगट (manifest) होते हैं और कुछ अनैच्छिक और अप्रगट (latent) होते हैं।

मर्टन यह नहीं मानता कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के लिए कुछ प्रकार्य और आवश्यकताएँ (alternative mechanism) अनिवार्य होता है। एक

ही प्रकार की आवश्यकताएँ हर सामाजिक-व्यवस्था को जीवित नहीं रखतीं। मर्टन का कथन है कि किसी सामाजिक-व्यवस्था के लिए कौन-सी आवश्यकताएँ अनिवार्य हैं, इसे तथ्यों के आधार पर ही बताया जा सकता है। मर्टन यह भी नहीं मानता कि किसी आवश्यकता की पूर्ति किसी एक ही प्रकार की सामाजिक-संरचना से हो सकती है। वैकल्पिक संरचना (alternative mechanism) से भी किसी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। जैसे, वर्तमान भारतीय राजनीति में राजनीतिक दलों के कमजोर होते ही जाति-व्यवस्था की वैकल्पिक संरचना राजनीतिक शक्ति का रूप ले रही है।

पूर्वोक्त को ध्यान में रखते हुए, मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्तों के निर्माण के लिए मर्टन ने प्रकार्यात्मक व्याख्यासूत्र या पैराडाइम प्रस्तावित किये हैं। इन सूत्रों के आधार पर सामाजिक घटना की व्याख्या करके, जब सिद्धान्त निर्मित किये जायेंगे तो वे मध्यसीमावर्ती सिद्धान्त होंगे। अतः मध्यसीमावर्ती सिद्धान्त को समझने के लिए **दो** बातों को समझना आवश्यक है—**पहला**, मर्टन के प्रमुख पैराडाइमों का महत्त्व। **दूसरा**, मर्टन के कुछ मध्य सीमावर्ती सिद्धान्तों (जैसे, प्रसंग-समूह व्यवहार और सामाजिक आदर्श-शून्यता) की व्याख्या जो आधुनिक समाजविज्ञान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं।

मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त क्या है ? (What is middle-range theory ?)

मर्टन के अनुसार समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त तर्कवाक्यों (sets of propositions) के तार्किक अन्तर्सम्बन्धों की ऐसी व्यवस्था है, जिससे तथ्यगत समानताएँ (empirical uniformities) प्राप्त की जा सकें। सिद्धान्त तथ्यों पर आधारित होगा। तथ्यों के अनुसार तर्कवाक्य बनाये जायेंगे। इन तर्कवाक्यों को तार्किक नियमानुसार सूत्रबद्ध किया जायेगा। इस प्रकार सिद्धान्त का निर्माण होगा। मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त की व्याख्या करने में मर्टन ने सिद्धान्त की इसी परिभाषा का उपयोग किया है। मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त का औचित्य बताते हुए मर्टन ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि पूर्ण व्याप्त सिद्धान्त (total system theory) का निर्माण समाजविज्ञान में अभी सम्भव नहीं है। जबतक समाजविज्ञान सक्षम नहीं हो जाता, तबतक मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त ही बनाना उचित होगा। पारसन्स या सारोकिन के समान पूर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त देना, समाजविज्ञान नहीं है। इसे दर्शन की पद्धति (system of philosophy) कहना ही उचित होगा। सम्पूर्ण सिद्धान्त के पक्षधर भौतिकी माडल (physics model) के आधार पर समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त बनाना चाहते हैं। मर्टन उनकी महत्त्वाकांक्षा को अभी सार्थक नहीं मानता। इस सम्बन्ध में मर्टन के कुछ तर्क निम्नलिखित हैं।

1. सम्पूर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त देने वालों में यह भ्रम है कि व्यापक आँकड़ों के अभाव में भी सम्पूर्ण सिद्धान्त बन सकते हैं, जब कि प्राकृतिक विज्ञानों में भी पूर्ववर्ती आँकड़ों के अभाव में सिद्धान्त नहीं बनते। समाजविज्ञान आँकड़ों के संग्रह में अभी बहुत पीछे है।

2. दूसरी भ्रान्ति इस मूल से उत्पन्न होती है कि इतिहास की एक ही अवधि में सभी विज्ञान समान रूप से परिपक्व होंगे। प्राकृतिक विज्ञानों के विकास में पिछले 350 वर्षों का इतिहास है, जितना श्रम और धन उनके विकास में लगा है, उसकी तुलना में समाजविज्ञान बहुत पीछे है। अतः सम्प्रति समाजविज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों के समान परिपक्व नहीं हो सकता।

3. तीसरी भ्रान्ति इस भूल से उत्पन्न होती है कि जैसे भौतिकी में सम्पूर्ण सिद्धान्त ही होते हैं, जबकि भौतिकशास्त्री स्वयं यह मानते हैं कि सम्पूर्ण सिद्धान्त बनाना उनके लिए भी निकट भविष्य में सम्भव नहीं है।

इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए मर्टन ने मात्र मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त निर्माण के औचित्य और विधि पर प्रकाश डाला है। मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त की परिभाषा देते हुए मर्टन ने लिखा है कि प्रतिदिन की घटनाओं को परिसीमित (delimited) करके सिद्धान्त निर्माण करना चाहिए। जब सामाजिक घटना परिसीमित कर दी जाती है तो उसे कोई नाम (label) दे दिया जाता है। जैसे, प्रसंग-समूह व्यवहार, आदर्शशून्यता, प्रभाव के प्रारूप, कर्मचारीतन्त्र, प्रचार, आदि। सिद्धान्त के दो प्रचलित स्वरूप हैं। पहला, अतिव्यापक सिद्धान्त या सामान्य सिद्धान्त (general theory) : ऐसे सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के बारे में होते हैं, जैसे, पारसन्स का समाज-व्यवस्था का सिद्धान्त है। दूसरे, अतिसीमित सिद्धान्त होते हैं जिनका सम्बन्ध छोटी इकाइयों से होता है। जैसे, छोटे-छोटे समूहों के व्यवहारों पर बने हुए सिद्धान्त। मर्टन का कहना है कि पहले प्रकार का सिद्धान्त बनाना सम्भव नहीं है तथा दूसरे से कोई फायदा नहीं है। इसलिए ऐसे सिद्धान्त बनाना चाहिए जो अतिसीमित भी न हों और अतिव्यापक भी न हों, बल्कि एकसमानता के आधार पर व्यापक हों। इसे मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त कहते हैं। इस आधार पर प्रतिदिन की घटनाओं से सम्बन्धित सामाजिक व्यवहार में तथ्यगत एकरूपता (observed uniformities) स्थापित करना, मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त का उद्देश्य है।

मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त के पक्ष में मर्टन ने कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं। दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धान्त को मर्टन ने मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त का एक अच्छा उदाहरण माना है। मर्टन के तर्क को भली-भाँति समझने से यह पता चलता है

कि मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त व्यापक निष्कर्षों पर आधारित, छोटे निष्कर्ष हैं। तर्कपद्धति में इसे सामान्य से विशेष की ओर (from general to particular) चलने की प्रक्रिया कहते हैं। जैसे—

मनुष्यों के सभी कबीले मरणशील हैं।
रोमां जिप्सियों का कबीला, मनुष्यों का कबीला है।
यह कबीला भी मरणशील है।

उपर्युक्त उदाहरणों में "मनुष्यों के सभी कबीले मरणशील हैं," यह एक आगमनमूलक (deductive) सामान्य निष्कर्ष है। इसके आधार पर मनुष्यों के एक समूह (रोमां जिप्सी) के विषय में निष्कर्ष निकाल लिया गया है। मर्टन के अनुसार यह निष्कर्ष मध्यसीमावर्ती है। इसके विपरीत अतिसीमित निष्कर्ष का उदाहरण निम्नलिखित है। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील हैं।
राम एक मनुष्य है।
इसलिए राम मरणशील है।

अतिसीमित निष्कर्षों को भी मर्टन नहीं चाहता और अतिव्यापक निष्कर्षों की भी सम्भावना नहीं देखता। अतः व्यापक सत्यों के आधार पर वह मँझोले सत्य की स्थापना करना चाहता है। व्यापक सत्यों की खोज मर्टन समाजशास्त्रीय विचारकों की रचनाओं में करता है। जैसे–दूसरों से तुलना करके अपना मूल्यांकन करना एक सामान्य सत्य है (मीड)। इसके आधार पर मर्टन ने प्रसंग-समूह व्यवहार का मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त बना लिया। मर्टन इस प्रकार के निष्कर्षों को सामान्य निष्कर्ष न कहकर 'साधारण विचार' (simple idea) कहता है। वैज्ञानिकों के कुछ साधारण विचारों को मर्टन अपने समर्थन में रखना चाहता है। गिलबर्ट (Gilbert) का साधारण विचार यह है कि पृथ्वी एक चुम्बक है। बोयल (Boyal) का सरल विचार है कि वातावरण हवा के समुद्र के समान है। इन सरल विचारों से प्रतिदिन की घटनाओं के विषय में परिकल्पनाएँ (hypotheses) बनायी जा सकती हैं और उनका परीक्षण किया जा सकता है।

मर्टन का कहना है कि मध्यसीमावर्ती सिद्धान्त बनाना समाजविज्ञान के लिए नीति (policy) का प्रश्न है। समाजशास्त्रियों में इस नीति को लेकर मतभेद है।

प्रकार्यात्मक शब्द-रूपावलियाँ (functional paradigms)

मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त निर्माण के लिए मर्टन ने 11 व्याख्या-सूत्र (analytical paradigms) बताये हैं। सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण जब इन सूत्रों के अनुसार किया जायेगा, तभी मध्यवर्ती सिद्धान्त बनेंगे।

1. प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए उन इकाईयों को निर्धारित करना, जिनसे प्रकार्य फलित होते हैं। प्रकार्य, सामाजिक-भूमिका, संस्था, संस्कृति, समूह, संगठन आदि कार्यों में देखे जा सकते हैं।

2. अभिप्रेरक आँकड़ों की खोज करना। इससे पता चलता है कि किन विचारों, इरादों और इच्छाओं के कारण सामाजिक व्यवहार किया जा रहा है।

3. सामाजिक घटनाओं के परिणाम का पता लगाना। सामाजिक घटनाओं के निम्नलिखित परिणाम हो सकते हैं—

(अ) प्रकार्यात्मक (functional)
(ब) अकार्यात्मक (dysfuctional)
(स) अनावश्यक परिणाम (non-functional)
(द) प्रकट परिणाम (manifest-function)
(य) अप्रकट परिणाम (latent-function)

4. यह पता लगाना कि किसी इकाई का प्रकार्यात्मक प्रभाव कहाँ तक और किन इकाईयों पर पड़ रहा है।
5. यह पता लगाना कि किसी व्यवस्था के जीवित रहने के लिए वास्तव मे किन आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य है।
6. यह पता लगाना कि किन तरकीबों से सामाजिक प्रकार्य होते हैं।
7. यह पता लगाना कि यदि किसी एक प्रकार्य को रोक दिया जाय तो उसकी वैकल्पिक व्यवस्था क्या होगी।
8. यह पता लगाना कि कोई घटना किस प्रसंग में हो रही है।
9. यह पता लगाना कि गति और परिवर्तन कैसे चल रहे हैं।
10. यह पता लगाना कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण किस प्रकार विश्वसनीय हैं।
11. यह पता लगाना कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण की वैचारिकी (ideology) किस प्रकार विश्लेषण को प्रभावित कर रही है।

मर्टन का प्रत्येक पैराडाइम किसी-न-किसी बुनियादी खोज की ओर इंगित करता है। अर्थात् सामाजिक घटना के विश्लेषण में अनुसंधानकर्त्ता को क्या-क्या देखने और जानने का प्रयास करना चाहिए। व्याख्या के इन सूत्रों से विश्लेषण व्यवस्थित और तार्किक हो जाता है। यह भी पता चलता है कि दृष्टिगोचर व्यवहार किस प्रकार आदर्श-व्यवहार से भिन्न है। इन सूत्रों से आत्म-प्रधान तथ्यों (subjective aspects) की भी पकड़ हो जाती है। प्रकार्यवादी विश्लेषण में मर्टन का विशेष योगदान, परिणामों के विश्लेषण के कारण है। परिणामों के स्वरूप प्रकार्यात्मक (functional), अप्रकार्यात्मक (dysfun-

ctional), प्रकट (manifest) और अप्रकट (latent) हैं । इनका विवेचन अलग से किया गया है ।

परिणामों का विवेचन (analysis of functional consequences)

परम्परागत प्रकार्यवादी विश्लेषण पद्धति से मर्टन का प्रकार्यवाद कुछ भिन्न है । कुछ आलोचकों ने मर्टन के प्रकार्यवादी विश्लेषण को 'सन्तुलित प्रकार्यवाद' (balanced functionalism) की संज्ञा दी है । मर्टन का योगदान दो कारणों से सन्तुलित कहा जा सकता है—

(अ) मर्टन ने विचलनकारी एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को भी अपने प्रकार्यात्मक विश्लेषण में स्थान दिया है ।

(ब) मर्टन ने अप्रकट (latent) परिणामों की व्याख्या करके प्रकार्यात्मक विश्लेषण के अधूरेपन को दूर किया है । सामाजिक घटनाओं के निम्नलिखित परिणाम निकल सकते हैं—

1. प्रकट परिणाम (manifest consequences)

प्रकट परिणाम उन परिणामों को कहते हैं, जिनके घटित होने का अनुमान पहले से हो रहता है । ऐसे परिणामों को पहले से जाना जाता है और इरादे के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है कि अनुमानित परिणाम निकल आवे । अगर व्यक्ति का उदाहरण लें तो कर्त्ता इन परिणामों को जानता है, चाहता है और उनका इरादा रखता है । जब ऐसे परिणाम निकलते हैं तो आश्चर्य नहीं होता । सामाजिक स्तर पर देखा जाय तो कल-कारखाने लगाने के परिणामस्वरूप रोजगार बढ़ता है । संगठन का आकार बड़ा होने से नौकरशाही की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं । किसी समूह में सदस्यों के सामाजिक-स्तर में समानता आने से एकता बढ़ती है । इस तरह के परिणामों को प्रकट परिणाम कहते हैं । सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में इन परिणामों के प्रभाव को स्थान मिलना चाहिये । प्रकट परिणामों से उस सामाजिक संरचना का भी पता चलता है, जिसके कारण परिणाम प्रगट होते हैं ।

2. अप्रकट परिणाम (latent consequences)

अप्रकट परिणाम वे परिणाम हैं, जिन्हें न तो कर्त्ता जानता है, न चाहता है और न उनका इरादा रखता है, लेकिन ऐसे परिणाम उसी के व्यवहारों से फलित होते हैं । चोर, चोरी करते समय यह नहीं समझता कि चोरी की घटनाओं के कारण लोग बहुत सतर्क हो जायेंगे, और वह पकड़ लिया जायेगा । दुश्मन-राष्ट्र आक्रमण करते समय यह अनुमान नहीं लगा पाता कि जिस राष्ट्र पर आक्रमण

किया जा रहा है, उसमें आक्रमण के कारण, अत्यधिक एकता बढ़ जायेगी। ऐसे परिणाम अप्रकट परिणाम हैं।

प्रकट और अप्रकट परिणामों में अवधारणा से किसी भी सामाजिक घटना का विश्लेषण पूर्ण हो जाता है। मर्टन ने दोनों परिणामों के भेद का निम्नलिखित महत्त्व बताया है—

(अ) अविवेकपूर्ण प्रतीत होने वाली घटनाओं के पीछे अप्रकट सामाजिक उद्देश्य का पता चलता है। भारतीय गाँवों में जब वर्षा नहीं होती है तो लोग कुछ ऐसे कर्मकाण्ड करते हैं जो देखने में निरर्थक लगते हैं। बच्चे दरवाजे-दरवाजे घूमकर जमीन पर लोटते-पोटते हैं और गृह स्वामी उन पर एक घड़ा पानी छोड़ देता है। यह भी कहा जाता है कि रात में स्त्रियाँ हल चलाती हैं। कीर्तन, भजन, हवन, जाप आदि प्रारम्भ कर दिया जाता है। वास्तव में वर्षा इस तरह के कर्मकाण्डों से नहीं होती, परन्तु अविवेकपूर्ण (irrational) प्रतीत होने वाली इन घटनाओं का परिणाम अप्रकट (latent) होता है। सूखा पड़ने के खतरे से समस्त ग्रामवासियों में एकता उत्पन्न होती है। प्राकृतिक विपत्ति के समक्ष समूह के लोग तरह-तरह के कर्मकाण्डों द्वारा अपनी एकता और सहयोग की भावना को प्रकट करते हैं। दुर्खीम के शब्दों में यह सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

(ब) सार्थक सैद्धान्तिक खोज की ओर ध्यान जाता है। एक सतर्क अनुसंधानकर्त्ता, अपना ध्यान केवल प्रकट परिणामों तक सीमित न रखकर, अप्रकट एवं अपरिचित परिणामों की भी खोज करता है।

(स) समाजवैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि होती है। ज्ञान में वृद्धि के सन्दर्भ में मर्टन ने कई उदाहरण दिये हैं। इनमें वेबलन (Veblen) के खर्चीली वस्तुओं के उपयोग का सिद्धान्त रोचक है। धनवान खर्चीली वस्तुओं का प्रयोग प्रकट रूप से तो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं, लेकिन अप्रकट रूप से अपनी सामाजिक प्रस्थिति (social status) को ऊँचा करने का प्रयास करते हैं। दियासलाई और लाइटर दोनों से एक ही प्रकार का काम लिया जा सकता है, परन्तु पैसे वाला व्यक्ति २० पैसे की माचिस न रखकर कीमती संगीत उत्पन्न करने वाले लाइटर का प्रयोग करता है। उसका यह प्रदर्शन अप्रकट परिणाम का नमूना है।

2. प्रकार्यात्मक एवं अकार्यात्मक परिणाम
(functional and dysfunctional consequences)

परम्परागत प्रकार्यवादी यह मानते थे कि प्रत्येक संरचना, यदि है तो, वह समाज-व्यवस्था के लिए उपयोगी भी होगी अर्थात् प्रकार्यात्मक (functional) होगी। जो कुछ उपयोगी या प्रकार्यात्मक है, उसकी संरचना भी होगी। इस दृष्टि

से अपराध समाज के लिए प्रकार्यात्मक हैं क्योंकि वे होते रहते हैं। अपराध की घटनाओं से समाज की नैतिक चेतना जागृत होती है। अपराधी के विरुद्ध एकता बढ़ती है। पुलिस और न्याय-व्यवस्था सतर्क हो जाती है। इस कारण अपराध समाज की एकता बढ़ाने में उपयोगी (functional) सिद्ध होते हैं।

मर्टन उपर्युक्त प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को असन्तुलित मानता है। समाज-व्यवस्था में ऐसी घटनाएँ भी होती हैं जो व्यवस्था की एकता को क्षति पहुँचाती हैं। समाज में विचलन उत्पन्न करती हैं, और यदि रोका न जाय तो, व्यवस्था के जीवन को नष्ट कर सकती हैं। इस प्रकार के परिणामों को अकार्यात्मक (dys-functional) की अवधारणा से समझना आवश्यक है। परिणामों की एक तीसरी कोटि भी मर्टन ने बतायी है। कुछ परिणाम ऐसे होते हैं, जिनसे न तो व्यवस्था संगठित होती है और न भंग ही होती है। ऐसे परिणाम अनावश्यक (non-functional) कहे जा सकते हैं। यदि अध्यापक एक दिन की हड़ताल कर दें तो उससे शिक्षा-व्यवस्था का न तो कुछ बनता है, न बिगड़ता है, परन्तु किसी नगर के बैंक कर्मचारी एक दिन के लिए हड़ताल कर दें या रेलकर्मचारी रेल का पहिया कुछ घण्टों के लिए जाम कर दें तो, समस्त व्यवस्था पर इसके परिणाम प्रकट होते हैं।

प्रकार्यात्मक व्याख्या-सूत्रों का उपयोग करते हुए, मर्टन ने प्रतिदिन की घटनाओं से सम्बन्धित कुछ मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्तों का निर्माण किया है। समाज-विज्ञान में सिद्धान्त के नाम पर ले-दे-कर इन्हीं का उल्लेख किया जाता है। अगले अध्यायों में हमने ऐसे दो प्रसिद्ध सिद्धान्तों का विवेचन प्रेषित किया है।

REFERENCES

Merton, Social Structure and Social Theory

Arthur L. Stinchcombe, Constructing Social Theories (New York : Harcourt, Brace and Worl, 1968)

Emile Durkheim, The Rules of the Sociological Method, (Glencoe, Free-Press, 1938)

अध्याय—5

मर्टन : प्रसंग-समूह व्यवहार सिद्धान्त

MERTON : THEORY OF REFERENCE GROUP–BEHAVIOUR

अमरीका के फौजी जीवन पर आधारित "द अमेरिकन सोल्जर" (The American Soldier) अनुसंधान कार्य के निष्कर्षों का सहारा लेते हुए, मर्टन ने प्रसंग-समूह व्यवहार सिद्धान्त की रचना की है। लोग अपनी तुलना अपने समूह के दूसरे लोगों से करते हैं, यह सत्य सनातन है। इस सन्दर्भ में कोई नई बात नहीं कही जा सकती। परन्तु मर्टन ने प्रसंग-समूह व्यवहार सिद्धान्त में एक नई अवधारणा प्रस्तावित की है। लोग केवल अपनी स्थिति की तुलना ही दूसरों से नहीं करते, बल्कि तुलना करने के कारण, अभाव-बोध (relative deprivation) से पीड़ित भी होते हैं। "उसके पास कुछ है" जो कि "मेरे पास नहीं है"। यह केवल तुलना नहीं है। इस तुलना का एक मनोवैज्ञानिक परिणाम भी निकलता है। अपनी स्थिति की तुलना करने वाला व्यक्ति मनोवैज्ञानिक अभाव-बोध का अनुभव करता है। अभावबोध के अनुभव से एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक तनाव उत्पन्न होता है। यही तनाव प्रसंग-समूह व्यवहार का स्रोत है। मर्टन का योगदान मात्र इतना ही है।

तुलनात्मक अभावबोध की अवधारणा
(the concept of relative deprivation)

तुलनात्मक अभावबोध की अवधारणा प्रसंग-समूह व्यवहार का केन्द्र-बिन्दु है। व्यक्ति की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी स्थिति की तुलना दूसरे व्यक्ति की स्थिति से करता है। फकीर को देखकर राजा अपने को हीन समझता है। कहा जाता है कि अनिद्रा से बेचैन एक राजा रात में महल से बाहर निकला। उसने देखा कि चाँदनी रात में एक कुम्हार नंगी फर्श पर चैन की गहरी नींद सो रहा है। राजा ने जब अपनी स्थिति की तुलना उस कुम्हार से की तो अभावबोध से पीड़ित हो गया। कुम्हार के पास चैन की नींद थी जो राजा के पास नहीं थी। मर्टन स्वयं मानता है कि तुलना करने की प्रवृत्ति सनातन है। यह कहानी इसी सनातन प्रवृत्ति को प्रकट करती है। व्यक्ति अपनी तुलना,

अपने स्तर से ऊँचे, समान स्तर और निम्न स्तर वालों से, कर सकता है। राजा कुम्हार नहीं बनना चाहेगा लेकिन कुम्हार राजा बनना चाहेगा। इसका उत्तर समाज की प्रस्थितिश्रृंखला (status hierarchy) है। बहुत कम लोग उच्च-प्रस्थिति से नीचे की प्रस्थिति में जाना चाहेंगे। मनुष्य की सामान्य प्रवृत्ति अधिक शक्ति, सम्मान और धन प्राप्त करने की होती है। अतः वह समाज के श्रेणीक्रम में नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना चाहता है। उच्च-प्रस्थिति वाले समूह के सदस्य जीवन की अनेक सुविधाओं का भोग करते हैं जिनसे निम्न प्रस्थिति के लोग वंचित रहते हैं। प्रसंग-समूह व्यवहार का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण सामाजिक स्तरीकरण है। ऊँच-नीच का भेद है। साधन-सम्पन्न और साधन-विहीन लोगों का अस्तित्व है। जहाँ भी मानव-समाज होगा, वहाँ असमानतायें अवश्य होंगी और प्रसंग-समूह व्यवहार भी होगा। मर्टन ने "द अमेरिकन सोल्जर" से कुछ उदाहरण दिये हैं।

1. सेना का विवाहित सिपाही, जब अपनी तुलना विवाहित असैनिक मित्रों से करता है तो यह महसूस करता है कि असैनिक मित्र अपने परिवार के साथ चैन से रहते हैं। परन्तु विवाहित सैनिक सिपाही अपने परिवार को छोड़कर मौत के मुँह में पड़ा हुआ है। ऐसे सैनिक को ऐसा लगता है कि असैनिक मित्रों की तुलना में, उसे अधिक त्याग करना पड़ रहा है।

2. सिपाही जब यह देखता है कि उससे कम शिक्षा और अनुभव प्राप्त लोग पदोन्नति कर रहे हैं और वह जहाँ का तहाँ है तो उसे तुलनात्मक अभाव-बोध की पीड़ा होती है।

3. सैनिक अपनी तुलना जब सेना के अफसरों से करता है तो पाता है कि अफसरों का जीवन अधिक सुविधा-सम्पन्न होते हुए कम खतरा वाला भी है। सिपाही को सुविधायें कम मिलती हैं लेकिन उसकी जान अधिक खतरे में होती है।

उपरोक्त उदाहरण तुलनात्मक अभाव बोध की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। **व्यक्ति जब अपनी प्रस्थिति (status) में रहते हुए, अपना मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध किसी दूसरी प्रस्थिति (status) से जोड़ता है तो यह मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध तुलनात्मक अभावबोध उत्पन्न करता है।** तुलनात्मक अभाव-बोध के कुछ कारक निम्नलिखित हैं।

(अ) तुलनात्मक अभाव-बोध मनोवैज्ञानिक-सम्बन्ध स्थापित करने से उत्पन्न होता है। यदि व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की प्रस्थिति से मनोवैज्ञानिक-सम्बन्ध न उत्पन्न करे तो सुखी रहेगा। हमारी समझ से यह नियम भी सनातन है।

(ब) मनुष्य में तुलना करने की क्षमता होती है।

(स) भूत, भविष्य और वर्तमान में, किसी वस्तु से मनोवैज्ञानिक नाता जोड़ने की क्षमता केवल मनुष्य में होती है।

उपर्युक्त मानवीय क्षमता के कारण तुलनात्मक अभाव-बोध सम्भव होता है। व्यक्ति अपनी स्थिति में रहते हुए, जिस दूसरे समूह का सदस्य बनना चाहता है उस समूह को, उस व्यक्ति का, प्रसंग-समूह (reference group) कहते हैं। व्यक्ति रहता अपने समूह में है परन्तु मनोवैज्ञानिक नाता प्रसंग-समूह से जोड़ता है। तुलनात्मक अभाव-बोध के कारण वह ऐसा करता है। व्यक्ति जब प्रसंग-समूह से जुड़ जाता है तो कुछ परिणाम निकलते हैं।

(अ) प्रसंग-समूह की सदस्यता प्राप्त करने के लिये वह पहले से तैयारी (anticipatory socialisation) करने लगता है। मंच पर पात्र का अभिनय करने के लिए जिस प्रकार पूर्वाभ्यास किया जाता है, उसी प्रकार आने वाली भूमिका ग्रहण करने के लिए, पूर्व समाजीकरण (anticipatory socialisation) किया जाता है।

(ब) व्यक्ति "न घर का रहता है, न घाट का"। वह अपनी स्थिति से असन्तुष्ट रहता है। अर्थात् अपने समूह में रहते हुए भी वह मनोवैज्ञानिक रीति से प्रसंग-समूह से जुड़ा रहता है। अपना समूह छोड़ना चाहता है और प्रसंग-समूह की सदस्यता उसे अभी तक प्राप्त नहीं हुई रहती है। वह दो समूहों के बीच त्रिशंकु के समान लटकता रहता है। अतः दो प्रस्थितियों (statuses) के बीच अनिश्चित स्थिति में रहने वाले व्यक्ति को, सीमान्त व्यक्ति (marginal-man) कहते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से सीमान्त स्थिति अत्यन्त तनावपूर्ण होती है।

पूर्व-समाजीकरण (anticipatory socialisation)

प्रसंग-समूह व्यवहार सिद्धान्त की दूसरी आधारभूत अवधारणा पूर्व-समाजीकरण की अवधारणा है। भावी भूमिका के लिये अपने आपको पहले से तैयार करना पूर्व-समाजीकरण है। परम्परागत भारतीय परिवार की लड़कियाँ बचपन से ही गुड़िया-गुड्डे का खेल खेलती हैं। उनका विवाह रचाती हैं, अपनी गुड़िया की विदाई करती हैं और रोती हैं। खेल-खेल में वह भावी वैवाहिक भूमिका के लिये पूर्व-समाजीकृत होती हैं। यह सत्य भी सनातन है। मर्टन को अपने इस सिद्धान्त की नवीनता प्रमाणित करने के लिये अनेक अवधारणायें और शब्द रूपावलियों का सहारा लेना पड़ा है।

प्रसंग-समूह से मनोवैज्ञानिक नाता जोड़ लेने के बाद व्यक्ति अपनी भूमिका को परिवर्तित करता है और ऐसी योग्यताओं को अर्जित करता है जिनसे वह प्रसंगसमूह का सदस्य सरलतापूर्वक हो जाये। प्रसंग-समूह के मूल्यों और लक्ष्यों को वह आत्मसात् कर लेता है। उनके अनुसार अपने आपको पहले से तैयार करने लगता है। यदि किसी किशोर का प्रसंग-समूह सेना में अफसर होना हो जाये तो वह पहले से उसके लिये अपने आपको समाजीकृत करना प्रारम्भ कर देगा। महान सैनिक कमाण्डरों की जीवनी पढ़ेगा, अकड़ कर चलेगा, साहसिक कार्य करेगा और अवसर पाते ही सेना में कमीशन पाने का प्रयास करेगा। चूंकि वह पहले से तैयार है, इसलिये वह अपने प्रसंग-समूह (सेना) में अच्छी तरह समायोजित (adjust) हो जायेगा। बिलकुल उसी तरह जैसे गुड़िया खेलने वाली बालिका, समय आने पर, ससुराली नई भूमिका में समायोजित हो जाती है। पूर्व-समाजीकरण के निम्नलिखित लाभ हैं।

(अ) भावी भूमिका की तैयारी होती है और प्रसंग-समूह में पहुँच कर समायोजन शीघ्र, सरल और सुगम होता है।

(ब) पूर्व-समाजीकरण के कारण प्रसंग-समूह में जाने की प्रेरणा (motivation) में कमी नहीं आने पाती।

अपनी प्रस्थिति से असन्तुष्ट होकर, दूसरी प्रस्थिति में पहुँचने की प्रक्रिया को, सामाजिक गत्यात्मकता (social mobility) के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सामाजिक श्रेणी क्रम में ऊपर चढ़ने के अवसर और नीचे उतरने की सम्भावनायें जितनी अधिक होंगी, सामाजिक गत्यात्मकता भी उतनी ही अधिक होगी। मर्टन के इस सिद्धान्त का व्यापक परिणाम यह भी हो सकता है कि सामाजिक असन्तोष क्रान्ति का रूप नहीं लेगा। अगर अपने प्रसंग-समूह में पहुँचने के लिये असन्तुष्ट लोगों को सुअवसर प्राप्त हों तो लोग प्रसंग-समूह व्यवहार करना, क्रान्ति करने से सरल समझेंगे। अमरीकी समाज, इसलिये मर्टन के प्रसंग-समूह व्यवहार सिद्धान्त से अधिक आशायें रखता है।

सामूहिकता ह्रास और समूह-हीनता
(de-grouping and grouplessness)

व्यक्ति जिस मात्रा में अपने समूह से अपने सम्बन्ध तोड़ता है, उसी मात्रा में उसका समूह ह्रास होता है। प्रसंग-समूह तक पहुँचने की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग यह भी है कि व्यक्ति के अपने समूह से सम्बन्धों का ह्रास हो जाना। देहात के स्कूल से पढ़ा हुआ बालक जब नये शहरी वातावरण में विश्वविद्यालय के छात्रावास में प्रवेश पा लेता है तो यह समूहहीनता (grouplessnese)

की स्थिति में होता है। अपने पुराने समूह से वह कट जाता है, और शहर में नये समूह का सदस्य जब तक नहीं बना रहता, तब तक वह समूहहीनता की दुःखद स्थिति में रहता है। उसकी स्थिति सीमान्त व्यक्ति (marginal man) की होती है। वह कभी अपने पुरानी देहाती मित्र-मण्डली की तरफ भागना चाहता है तथा कभी शहरी मित्रों की मण्डली की ओर आकर्षित होता है। धीरे-धीरे पुराने सामूहिक सम्बन्ध टूटने लगते हैं (degrouping) और वह शहरी जीवन के प्रसंग-समूह में प्रवेश करने लगता है।

प्रसंग-समूह और सामाजिक संरचना
(reference group and social structure)

प्रसंग-समूह की अवधारणा का विकास सर्वप्रथम समाज मनोविज्ञान से प्रारंभ हुआ। बाद में इसे समाजवैज्ञानिक सिद्धान्तों से पृथक् स्थान प्राप्त हुआ। समाज मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक सिद्धान्तों में प्रसंग-समूह की अवधारणा में विशेष भिन्नता नहीं है। परन्तु मर्टन ने प्रसंग-समूह के कुछ ऐसी बुनियादी अवधारणायें प्रस्तावित की हैं जिनसे इस सिद्धान्त को उपयोगिता बढ़ गयी है। समाज संरचना के विश्लेषण में इन बुनियादी अवधारणाओं से विशेष सहायता मिलती है। यहाँ पर केवल कुछ महत्त्वपूर्ण बुनियादी अवधारणाओं का हम विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

बुनियादी अवधारणायें (basic concepts)

1. प्रसंग-समूह (reference-group)

आलोचकों का कहना है कि प्रसंग-समूह व्यवहार में कोई नवीनता नहीं है। पुरानी घटना का यह नया नाम है। परन्तु मर्टन ने इसकी नवीनता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह बताया है कि प्रसंग-समूह व्यवहार द्वारा एक समूह का सदस्य, उस समूह में सम्मिलित होना चाहता है, जिसका वह सदस्य नहीं है। अतः अ-सदस्य (non-member) होते हुए प्रसंग-समूह की ओर अग्रसित होना, इस अवधारणा की मौलिकता है।

2. प्रसंग समूह के प्रकार्यात्मक प्रकार
(functional types of reference groups)

प्रसंग-समूह व्यवहार के दो पक्ष हैं। पहला, अ-सदस्य (non-member) आत्म-मूल्यांकन करता है और प्रसंग-समूह को तुलना बिन्दु मानता है। दूसरा, अ-सदस्य प्रसंग-समूह के मूल्यों और लक्ष्यों को आत्मसात् करता है तभी वह प्रसंग-समूह में जाने के लिए प्रेरित होता है। मर्टन ने प्रसंग-समूह के दो प्रकार बताये हैं।

(अ) आत्म मूल्यांकन कराने वाले समूह (**comparison type**)

(ब) मूल्य और लक्ष्यों को आत्मसात् कराने वाला प्रसंग-समूह (**normative type**)

यह आवश्यक नहीं है कि दोनों समूह अलग-अलग हों। एक ही प्रसंग-समूह दोनों बातों का बोध करा सकता है।

3. समूह की सदस्यता की अवधारणा
(the concept of group and group-membership)

प्रत्येक समूह में सदस्यता की शर्तें होती हैं। मर्टन इन्हें सदस्यता की सीमा-रेखा (boundaries) कहता है। सदस्य की सदस्यता निम्नलिखित पर निर्भर होती है।

(अ) सामाजिक सम्बन्ध या सामाजिक अन्तराक्रिया की बारम्बारता।

(ब) व्यक्ति द्वारा स्वयं को समूह का सदस्य परिभाषित करना।

(स) समूह के अन्य सदस्यों द्वारा उस व्यक्ति को सदस्य परिभाषित करना।

इन शर्तों से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी समूह का सदस्य अंशों में होता है। वह अपने आपको समूह का सदस्य अधिक या कम मात्रा में मान सकता है। समूह के दूसरे लोग भी, उसे समूह का सदस्य, कम या अधिक मात्रा में, मान सकते हैं। इस कसौटी पर समूह की सदस्यता दो प्रकार की होगी।

(अ) नाम-मात्र सदस्य (nominal group-member)

ऐसे सदस्य को दूसरे यह मानते हैं कि समूह की गतिविधियों में भाग लेते हुए भी, वह लोगों से सम्बन्ध नहीं रखता है। दूसरों की परिभाषा में वह समूह का नाम-मात्र सदस्य होता है।

(ब) परिधिस्थ सदस्य (perrpheral group member)

दूसरों से सामाजिक अन्तराक्रिया या सम्पर्क की मात्रा अत्यधिक कम कर देने वाला व्यक्ति, परिधिस्थ सदस्य होता है। जब वह दूसरों से अन्तराक्रिया नहीं करता तो दूसरे उसके व्यवहारों पर नियन्त्रण भी नहीं रख पाते।

4. (अ) असदस्यता की अवधारणा
(the concept of non-membership)

समूह की सदस्यता की कसौटी पर खरा न उतरने वाला व्यक्ति अ-सदस्य (non-member) होता है। जिम्मेल (Simmel) ने समूह की पूर्णता (completeness) की अवधारणा दी है। इसी से मिलती-जुलती मर्टन की अ-सदस्यता की अवधारणा है। अ-सदस्य दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो सदस्य बनने की

योग्यता (eligibility) रहते हैं। दूसरे वे जो सदस्य बनने के लिये अयोग्य (ineligible) होते हैं। दोनों प्रकार के सदस्य किसी समूह में सदस्यता प्राप्त करने के विषय में अपना दृष्टिकोण भी रखते हैं।

जैसे, दूसरे समूह (प्रसंग-समूह) की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक हो सकते हैं या उसके प्रति उदासीन हो सकते हैं। योग्यता रखने वाला व्यक्ति सदस्यता का सशक्त उम्मीदवार हो सकता है। अयोग्य व्यक्ति प्रसंग-समूह से विरक्त रह सकता है या उसका विरोध कर सकता है। इन विशेषताओं के आधार पर अ-सदस्य की प्रस्थिति (status) का वर्गीकरण मर्टन ने इस प्रकार किया है।

असदस्यता का वर्गीकरण

प्रसंग-समूह की सदस्यता के बारे में अ-सदस्य का दृष्टिकोण	सदस्यता के लिये योग्य	सदस्यता के लिये अयोग्य
सदस्यता के लिये इच्छुक	सदस्यता का उम्मीदवार	सीमान्त-व्यक्ति (marginal-man)
सदस्यता के प्रति उदासीन	सक्षम सदस्य (potential member)	विरक्त सदस्य
सदस्य न बनने के लिये प्रेरित	स्वायत्तपूर्ण अ-सदस्य (autonomous non-member)	

सदस्यता के लिये इच्छुक व्यक्ति पहले से तैयारी (anticipatory-socialisation) करने लगता है। सीमान्त व्यक्ति (marginal-man) प्रसंग-समूह की सदस्यता के लिये अयोग्य होता है। वह जानता है कि प्रसंग-समूह उसे स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए वह प्रसंग-समूह की निन्दा भी करता है। कुछ ऐसे अ-सदस्य होते हैं जो प्रसंग-समूह में सम्मिलित होने की सक्षम-योग्यता रखते हुए भी, किसी कारण, उसके सदस्य बनना नहीं चाहते। प्रसंग-समूह के प्रति उनका दृष्टिकोण उपेक्षा और उदासीनता का हो जाता है। कुछ ऐसे अ-सदस्य होते हैं जो प्रसंग-समूह के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखते हैं और उसका खुलकर विरोध भी करते हैं। अतः असदस्यों की दो कोटियाँ हुईं। एक वे सदस्य जो प्रसंग-समूह के प्रति स्वीकारमूलक दृष्टिकोण (positive-orientation) रखते हैं। दूसरे वे जो निषेधमूलक (negative-orientation) दृष्टिकोण रखते हैं। इन्हीं दृष्टिकोणों के अनुसार व्यक्ति स्वीकारमूलक प्रसंग-समूह (positive reference-group)

होता है, अर्थात्, वह प्रसंग-समूह की सदस्यता की इच्छा व योग्यता दोनों रखता है। व्यक्ति का निषेधमूलक प्रसंग-समूह (negative reference-group) वह समूह होता है जिसके प्रति वह उदासीन, आलोचनात्मक या प्रतिरोधात्मक दृष्टिकोण रखता है

प्रसंग-समूह की दृष्टिगोचरता
(visibility of role-performance)

प्रसंग-समूह और प्रसंग-व्यक्ति (reference-individual) दो अलग-अलग अवधारणायें हैं। जिस व्यक्ति की भूमिका-प्रारूप (model) मानकर अनुकरण किया जाता है, उसे प्रसंग-व्यक्ति कहा जाता है। व्यक्ति किसी की भूमिका अनुसरण तभी कर सकता है, जब दूसरे की भूमिका उसे दृष्टिगोचर हो।

प्रसंग-समूह के सदस्यों की भूमिका का दृष्टिगोचर होना आवश्यक है। जब उसकी भूमिका को दूसरे लोग देखेंगे, तभी प्रसंग-समूह की ओर झुकेंगे। अनेक सामाजिक कारणों से दूसरों की भूमिका दृष्टिगोचर नहीं हो पाती। जैसे प्राचीन भारत में मन्दिर में पुजारी की भूमिका को कुछ सामाजिक कारणों से, अछूत व्यक्ति नहीं देख सकता था। अनेक ऐसे समूह होते हैं जो अ-सदस्य को अपनी कार्यकारिता देखने की अनुमति नहीं देते।

प्रसंग-समूह के परिणाम
(consequences of reference-group behaviour)

मर्टन ने प्रसंग-समूह के परिणामों को पूर्व-तैयारी (anticipatory socialisation) की अवधारणा से देखा है। व्यक्ति जब प्रसंग-समूह की सदस्यता ग्रहण करने का इच्छुक होता है तो उसके क्या परिणाम निकलते हैं ? भविष्य में सामाजिक स्तर प्राप्त करने के लिए व्यक्ति सचेत होकर पहले से तैयारी करने लगता है जो सदस्यता अभी नहीं मिली है, उसकी तैयारी पहले से ही करने लगना, प्रसंग-समूह व्यवहार का परिणाम है।

मर्टन ने प्रसंग-समूह व्यवहार के एक और परिणाम की व्याख्या तकनीकी ढंग से की है। प्रत्येक व्यक्ति की एक मुख्य भूमिका होती है। जैसे, कोई व्यक्ति डाक्टर है। डाक्टर की भूमिका के साथ कुछ अन्य भूमिकाओं की शृंखला जुड़ी हुई है। जब वह कक्षा में पढ़ता है, वह अध्यापक की भूमिका में होता है। जब नर्स और दूसरे मातहतों से मिलता है तो वह आफिसर की भूमिका में होता है। मरीज को देखते समय वह चिकित्सक की भूमिका में होता है। दवा-विक्रेता एजेन्ट से बातचीत करते समय वह ग्राहक की भूमिका में होता है। यहाँ समझने की बात यह है कि ये सभी भूमिकाएँ उसकी मुख्य भूमिका के साथ जुड़ी हुई हैं।

इसलिए यह भूमिकाओं का सेट (role-set) है। प्रसंग-समूह में आने के इच्छुक व्यक्ति की भूमिका-शृंखला दूसरे व्यक्तियों के भूमिका-शृंखला से जुड़ी हुई होती है। अतः दूसरे प्रसंग समूह में जाने के लिए या तो प्रोत्साहित करेंगे या हतोत्साहित करेंगे। जैसे, किसी संगठन में, समय से पहले, अपने सहयोगियों को पार करता हुआ कोई व्यक्ति उच्च पद पर पहुँचना चाहता है तो उसके सहयोग उसकी टाँग पकड़कर खींच सकते हैं या उसे समर्थन देकर प्रोत्साहित कर सकते हैं। यह व्यक्ति का भाग्य है कि वह किस प्रकार के भूमिका-शृंखलाओं के जाल में फँसता है।

पूर्व-तैयारी के आधार पर मर्टन ने जीवन-क्रम (life-cycle) की विवेचना की है। समय (time) के अन्तर्गत, व्यक्ति तीन दिशाओं में भूमिका ग्रहण कर सकता है—अतीत की भूमिका, वर्तमान की भूमिका और भविष्य की भूमिका। यदि वह प्रतिगामी है तो अतीत की भूमिका की ओर झुकेगा। जैसे, कुछ बूढ़े लोग अपने अतीत से मोह रखते हैं। अतीत के सांस्कृतिक गौरव से मोह रखने वालों को भूमिका रूढ़िवादी होती है। बच्चे वर्तमान की भूमिका में रुचि रखते हैं। युवक वर्तमान की भूमिका के साथ-साथ भविष्य की भूमिका की भी तैयारी करते रहते हैं। अधेड़ उम्र वाले व्यक्ति का प्रसंग-समूह भविष्य में बुढ़ापे का प्रसंग-समूह होता है। अतः बुढ़ापे जी भूमिका में सफल होने के लिए वह पहले से अपना समाजीकरण प्रारम्भ कर देता है। मर्टन के प्रसंग-समूह व्यवहार के अपनाने का मुख्य परिणाम पूर्व-तैयारी (anticipatory socialisation) में प्रकट होता है।

•

मर्टन : सामाजिक संरचना और आदर्श-शून्यता का सिद्धान्त

MERTON : THEORY OF SOCIAL STRUCTURE & ANOMIE

आदर्श-शून्यता के सम्बन्ध में दुर्खीम ने जो प्रश्न उठाये हैं, मर्टन उन्हीं का उत्तर देता है। दुर्खीम के अनुसार, व्यक्ति पर जब सामूहिक-चेतना (collective-conscience) का दबाव कम होता है तो उचित-अनुचित का बोध समाप्त हो जाता है। सामाजिक नियंत्रणकारी बन्धन टूट जाते हैं, व्यक्ति की इच्छायें असीमित हो जाती हैं और सामाजिक प्रतिमान-शून्य हो जाते हैं। इसीलिए इस स्थिति को आदर्श-शून्यता (normlessness) या विचलन कहते हैं। दुर्खीम इस घटना को एनामी (anomie) की संज्ञा देता है। विशेष प्रकार की आत्म-हत्यायें भी आदर्श-शून्यता (anomie) का परिणाम होती है। मर्टन इसी अवधारणा का विस्तार करता है और यह बताता है कि आदर्श-शून्यता की व्यापक स्थिति से व्यक्ति कैसे समायोजन (adaptation) स्थापित करता है। इस स्थिति से वह जिस प्रकार का समायोजन स्थापित करेगा, उसी प्रकार की उसकी सामाजिक भूमिका (social role) होगी। यह समायोजन विचलनकारी समायोजन (deviance) होता है। इस प्रसिद्ध सिद्धान्त की स्थापना करने में मर्टन ने अपने प्रकार्यात्मक पैराडाइमों का प्रयोग किया है। यह सिद्धान्त मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त निर्माण का उत्कृष्ट नमूना है। मर्टन विचलनकारी व्यवहारों का कारण व्यक्ति के शारीरिक या मनोवैज्ञानिक दशाओं में नहीं ढूंढ़ता, बल्कि सामाजिक संरचना में ढूँढ़ता है। मर्टन का यह विशेष योगदान है कि विचलन-कारी व्यवहारों का दायित्व उसने सामाजिक संरचना पर रखा है। मर्टन से पहले, कुछ विद्वानों ने व्यक्ति के 'अन्दर' कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक स्रोत खोजने का प्रयास किया है कि जिनसे मनोवैज्ञानिक क्रियाओं की व्याख्या हो सके। फ्रायड की कामवासना (libido) और मूल प्रवृत्तियों का सिद्धान्त विचलन के आन्तरिक स्रोत का अच्छा नमूना है। इसके विपरीत, मर्टन ने व्यक्ति से बाहर सामाजिक-संरचना के अवसरों को विचलनकारी व्यवहार का जिम्मेदार ठहराया

है। किसी बड़े कालेज में एक छोटा सा साइकिल स्टैण्ड हो जिसमें इतनी भीड़ होती हो कि छात्रों को अपनी साइकिल सुरक्षित रखने में असुविधा होती है। वहाँ यह देखने में आयेगा कि छात्र कारिडार में, यत्र-तत्र, किसी जगह भी अपनी साइकिलें खड़ी करेंगे। यदि कालेज का प्रशासन यह पूछे कि साइकिल रखने में अनियमितता क्यों बढ़ती जा रही है तो उत्तर मिलेगा कि 'नियमानुसार व्यवहार करने के सुअवसर अवरुद्ध हैं।' यदि कई साइकिल स्टैण्ड सुविधाजनक स्थान पर होते (संरचना) तो छात्र विचलनकारी व्यवहार न करते। यह उदाहरण आदर्श स्थिति का है। संरचनात्मक सुअवसर (structural opportunity) के अवरुद्ध होने पर, विचलनकारी मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है। मर्टन ने इस स्थिति को सिद्धान्तबद्ध करते हुए संस्कृति (culture) और सामाजिक संरचना (social structure) के अन्तर स्थापित किया है।

सांस्कृतिक लक्ष्य और संस्थागत प्रतिमान (cultural goals and institutional norms)

सामाजिक संरचना के दो ऐसे अंग हैं जिन्हें व्याख्या हेतु, मर्टन अलग-अलग करता है। पहला, संस्कृति द्वारा परिभाषित लक्ष्य, और दूसरा, इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के संस्थागत प्रतिमान या साधन।

हर संस्कृति में जीवन के कुछ लक्ष्यों को महत्व दिया जाता है। आधुनिक समाज में सफलता के लक्ष्य (success goals) पर अधिक बल दिया जाता है। लक्ष्यों की प्राप्ति का हर तरीका समाज को मान्य नहीं है। इनको प्राप्त करने के संस्थागत तरीके ही समाज को स्वीकार्य होते हैं, अर्थात् उचित लक्ष्यों को उचित साधनों से प्राप्त करना चाहिए।

समाज की संरचना में मर्टन एक सन्तुलन-बिन्दु (equilibrium) की कल्पना करता है। संस्कृति द्वारा परिभाषित लक्ष्यों को संस्थागत साधनों से प्राप्त करने की दशा, सन्तुलन है। लेकिन ऐसा होता नहीं है। सन्तुलन की स्थिति में असन्तुलन उत्पन्न होता रहता है। असन्तुलन उत्पन्न करने के कुछ कारण भी होते हैं। जब लक्ष्यपूर्ति पर अधिक बल दिया जाता है, किन्तु उसी अनुपात में, संस्थागत साधनों पर बल नहीं दिया जाता है तो संरचनात्मक असन्तुलन उत्पन्न होता है। इन दोनों पर अनुपाततः कम या अधिक बल समाज की संस्कृति द्वारा दिया जाता है। अतः असन्तुलन उत्पन्न करने का दायित्व समाज व संस्कृति पर होता है। मर्टन ने अमरीकी समाज के उदाहरण से स्पष्ट किया है कि वहाँ सफलता के लक्ष्य पर अत्यधिक बल दिया जाता है और सफलता की कसौटी मात्र धन (money) को माना जाता है। कोई स्त्री सुन्दर है, इसकी कसौटी

यह है कि वह किसी अरबपति की पत्नी या प्रेयसी हो। कलाकार या खिलाड़ी श्रेष्ठ तभी है जब वह अधिक धन भी अर्जित कर लेता हो। ऐसे समाज में कहा जाता है कि "सफल बनो, साधन चाहे उचित हो या अनुचित।" जिन गैर-संस्थागत साधनों से सफलता प्राप्त होती है, उन्हें मर्टन, तकनीकी कुशल साधन (technically efficient means) कहता है। ऐसे कुशल साधन संस्थागत साधन से भिन्न होते हैं। इन्हें नया आविष्कार (innovation) भी कहते हैं। धन कमाने के लिए जाली नोट छापना, जाली दवायें बेचना, काला धन्धा करना, तस्करी करना, तकनीकी कुशल साधन हैं। जब व्यक्ति ऐसे साधनों का चुनाव करता है तो उसका व्यवहार विचलनकारी (anomic) होता है। मर्टन ऐसे व्यवहारों को एक प्रकार का समायोजन (adaptation), या भूमिका-ग्रहण (role-taking) की अवधारणा से देखता है। व्यक्ति अनुचित साधनों का चयन जान-बूझकर या अनजाने में करता है। मध्यसीमावर्ती सिद्धान्त के अनुसार, जब समाज की कोई सीमित जनसंख्या सांस्कृतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए नैतिक आचरण नहीं करती है तो इस स्थिति को आदर्श-शून्यता (normlessness) कहते हैं। इस सिद्धान्त के दो पक्ष हैं—

(अ) सांस्कृतिक लक्ष्यों की पूर्ति पर व्यक्ति अत्यधिक बल क्यों देता है ?

(ब) संस्थागत आचरण भंग क्यों हो जाता है ?

दोनों प्रश्नों का उत्तर सामाजिक संरचना में निहित है। मर्टन के सिद्धान्त को दो सूत्रों में बाँधा जा सकता है—

जिस व्यवस्था के लोगों में, सांस्कृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उचित संस्थागत साधनों की दुर्लभता के कारण, मनोवैज्ञानिक असन्तोष व्यापक रूप से (widespread) पाया जाता है, वहाँ विचलनकारी व्यवहारों की सम्भावना अधिक होती है। लक्ष्यों की प्राप्ति पर सांस्कृतिक बल जितना अधिक दिया जायेगा, तथा उचित संस्थागत साधन जितना ही कम होंगे, वहाँ विचलनकारी व्यवहारों की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी।

वास्तव में, मर्टन का सैद्धान्तिक कथन यह है कि लोग 'असन्तुलन से समायोजित' हो जाते हैं। इस समायोजन के कारण लोगों की भूमिका विचलनकारी हो जाती है। मर्टन ने विचलनकारी समायोजन का प्रकार्यविज्ञान (typology) भी दिया है।

विचलनकारी समायोजन

समायोजन के प्रकार	सांस्कृतिक लक्ष्य	संस्थागत सान
अ–समंजनकारी (conformist)	+	+
ब–विचलनकारी (innovative) नये मार्ग का आविष्कारी	+	–
स–सन्तोषणा (ritualistic)	–	+
द–प्रतिगामी (retreatist)	–	–
य–विद्रोह (rebellion)	∓	∓

\+ स्वीकारना — नकारना

∓ प्रचलित लक्ष्य और साधनों के स्थान पर, नये लक्ष्य और साधन स्थापित करना

समंजनकारी (Conformity)

समंजनकारी समायोजन विचलन के विपरीत होता है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक लक्ष्यों को स्वीकार करते हुए संस्थागत उचित साधनों द्वारा उनकी पूर्ति करता है। समंजनकारी समायोजन को सिद्धान्त रूप में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं।

सांस्कृतिक लक्ष्य और संस्थागत साधन जितने ही अधिक उपलब्ध होंगे, समंजनकारी व्यवहार उतना ही अधिक बढ़ेगा और विचलनकारी व्यवहार की सम्भावना उतनी ही घटेगी।

विचलनकारी या नये मार्ग का अधिकारी (innovation)

विचलनकारी या नये मार्ग का अविष्कारी-समायोजन, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, अनुचित साधनों का आविष्कार करता है। संस्थागत साधनों के आधार पर, व्यक्ति ऐसे कुशल तकनीकी साधनों का आविष्कार करता है जिनसे लक्ष्य सरलता से प्राप्त हो जाये। मर्टन ने विचलनकारी या आविष्कारी समायोजन के कुछ कारक भी बताये हैं।

(अ) प्रारम्भिक समाजीकरण के अनुभव यदि व्यक्ति को अनुचित मार्ग ढूँढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं तो वह सरलता से उनका आविष्कार करेगा। अनुचित साधनों को अपनाने में उसे मनोवैज्ञानिक कष्ट नहीं होगा। इस प्रकार के समाजीकरण में परिवार की विशेष भूमिका होती है।

(ब) कुछ समाज सामूहिक सफलता पर बल देते हैं, और कुछ व्यक्ति सफलता पर बल देते हैं। वैयक्तिक सफलता पर जो संस्कृति अधिक बल देती है उसमें

विचलनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। असफलता को कलंक (stigma) समझा जाता है। सफलता प्राप्त करने पर इतना अधिक दबाव डाला जाता है कि व्यक्ति अनुचित साधनों से सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। **सिद्धान्त-स्वरूप इस समायोजन को इस प्रकार प्रगट किया जाता है कि जिन लोगों को सांस्कृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने** के लिए संस्थागत साधन के सुअवसर कम मिलते हैं, वे विचलनकारी समायोजन के प्रति अधिक झुकाव रखते हैं। ऐसा तभी सम्भव है जब वैयक्तिक सफलता पर अधिक बल दिया जावे, और अनुचित साधन सरलता से उपलब्ध हों, तथा अतीत में भी लोग अनुचित साधनों का प्रयोग करते आये हों।

सन्तोषण (ritualistic)

कुछ लोग सफलता के लक्ष्यों से अनभिज्ञ होते हैं या उन्हें प्राप्त करने के उत्पीड़न से डरते हैं। ऐसे लोग सफलता के लक्ष्यों को छोड़ देते हैं किन्तु संस्थागत साधनों को नहीं छोड़ते। या तो ऐसे लोग असफलता से डरते हैं या प्रतिस्पर्द्धा से घबड़ाते हैं। अपने भय को दूर करने के लिए ये संस्थागत नियमों का ही पालन करते हैं।

सिद्धान्त रूप में कहा जा सकता है कि जिस समाज में सफलता प्राप्त करने पर जितना ही अधिक बल दिया जायेगा, वहाँ असफलता का भय उतना ही अधिक होगा, और कुछ लोग सन्तोषण समायोजन करना पसन्द करेंगे।

प्रतिगामी (retreatist)

कुछ लोग लक्ष्य और साधन दोनों को तज देते हैं। ऐसे लोग समाज में उपेक्षित जीवन व्यतीत करते हैं। इन लोगों में अनुचित साधनों को प्रयोग न करने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। सफलता के अवसर दुर्लभ होने के कारण, ऐसे लोग सांस्कृतिक लक्ष्य और संस्थागत साधन दोनों को ही त्याग देते हैं। सिद्धान्त रूप **में कह सकते हैं कि जो लोग अनुचित साधनों का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं करना चाहते, और सफलता के सुअवसर नहीं पाते, वे प्रतिगामी हो जाते हैं।**

विद्रोह (rebellion)

मर्टन आक्रोश और विद्रोह में अन्तर करता है। आक्रोश केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति है जबकि विद्रोह, पुराने लक्ष्य और साधनों के स्थान पर, नये लक्ष्य और साधनों को स्थापित करने का संकल्प है। जिस समाज में सफलता से लोग जितना अधिक वंचित रहेंगे, वहाँ विद्रोह की सम्भावनायें उतनी ही अधिक होंगी। **सिद्धान्त रूप में कहा जा सकता है कि जहाँ सफलता से वंचित रहने वाले, वंचा-**

रिकीय (ideological) स्तर पर व्यवस्था की जितनी अधिक आलोचना करेंगे, वहाँ विद्रोह की सम्भावनायें उतनी ही अधिक होंगी।

समालोचना

पारसन्स के समान, मर्टन भी सामाजिक घटनाओं का अनावश्यक वर्गीकरण करता है। समायोजन का वर्गीकरण मैक्स-वेबर के आदर्श-प्रारूप (ideal-type) से मिलता-जुलता है। साधन-साध्य (means-ends) के असन्तुलन से विभिन्न प्रकार के समायोजन उत्पन्न होते हैं। मर्टन ने दो परिवर्त्यों (variables) के सहगामी सम्बन्ध की विवेचना की है। एक परिवर्त्य के घटने या बढ़ने से, दूसरा परिवर्त्य भी घटने या बढ़ने लगता है। आलोचकों का कहना है कि मर्टन की समायोजन कोटियाँ अच्छी तरह परिभाषित नहीं हैं। परन्तु, यह सभी मानते हैं कि मर्टन के सामाजिक संरचना और आदर्श शून्यता के सिद्धान्त से एक सामाजिक प्रक्रिया (social process) का बोध होता है। मध्य-सीमावर्ती सिद्धान्त की कसौटी पर, सामाजिक संरचना और आदर्श-शून्यता के सिद्धान्त का निर्माण करना, मर्टन का सराहनीय प्रयास है।

●

सामाजिक संघर्ष के सिद्धान्त : मार्क्स, जिम्मेल, डेहरन्डार्फ और कोजर

(SOCIAL CONFLICT THEORIES : MARX, SIMMEL, DAHRENDORF AND COSER)

सामाजिक संघर्ष सिद्धान्त का प्रारम्भ

सामाजिक संघर्ष को लोग अच्छी सामाजिक प्रक्रिया नहीं मानते । जो कुछ अप्रिय होता है, उसके बारे में थोड़ा-बहुत सभी लोग जानते हैं । जो लोग वामपंथी राजनैतिक विचारधारा से सहमत नहीं होते हैं, वे सामाजिक संघर्ष की अवधारणा में राजनैतिक गंध अनुभव करते हैं । वास्तविकता यह है कि सामाजिक व्यवस्था में, अनेक प्रक्रियाओं के साथ, सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया भी चलती रहती है । यह विषय अत्यन्त गम्भीर सैद्धान्तिक अवधारणाओं से जुड़ा हुआ है । अभी तक जिन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, वे प्रकार्यवाद (functionlism) से जुड़े हुए हैं । सामाजिक संघर्ष को प्रकार्यवादी उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि समाज में 'क्रम' और 'सन्तुलन' को देते हैं । सामाजिक अस्थिरता, विघटन और विचलन जैसी प्रक्रियायें उनके लिए असामान्य और रुग्ण हैं । परन्तु समाज में कुछ ऐसी अटल चीजें हैं जिनके कारण संघर्ष अनिवार्य होता है, जैसे—

(अ) शक्ति का असमान वितरण ।
(ब) दुर्लभ साधन ।
(स) विभिन्न समूहों द्वारा अपने हितों की पूर्ति करना ।

उपर्युक्त कुछ ऐसी घटनायें हैं जो हर समाज में रहेंगी । कुछ लोग शक्तिशाली होंगे, कुछ कम शक्तिशाली होंगे और कुछ शक्तिहीन होंगे । शक्तिशाली समूह शक्तिहीनों का शोषण करेगा, जिसके कारण संघर्ष होगा ही । सुख, सुविधा, सुरक्षा और सम्मान देने वाली वस्तुएँ हर समाज में दुर्लभ होती हैं । उनकी मात्रा कम होने के कारण उनको प्राप्त करने के लिए, संघर्ष अनिवार्य है । सभी लोग समाज में न तो साधु होते हैं, न दुष्ट होते हैं । लोगों में स्वार्थों की

भिन्नता होती है। समूहों के स्वार्थ परस्पर टकराते हैं और संघर्ष होता है। प्रकार्यवादी-समाजविज्ञान के प्रभाव के कारण बहुत दिनों तक संघर्ष, शोषण और निर्धनता ऐसी अवधारणायें अमरीकी बौद्धिक जगत् में सुनाई नहीं पड़ीं। साठोत्तर काल में ऐसी घटनाओं पर कुछ समाजवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ। इसका नेतृत्व सी० राईट मिल्स ने किया। इसी काल में 'नये समाज विज्ञान' (New Sociology) के नाम से अमेरिका में जो समाजवैज्ञानिक धारा निकली, उसने सामाजिक संघर्ष पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। परिणाम-स्वरूप कार्ल मार्क्स और जार्ज ज़िम्मेल (सिम्मेल भी कहते हैं) ऐसे सिद्धान्तकारों की पुर्नव्याख्या प्रारम्भ हुई। संघर्ष सिद्धान्त के चार प्रमुख सिद्धान्तकार माने जाते हैं। कार्ल मार्क्स और ज़िम्मेल से समाज विज्ञान में सामाजिक संघर्ष का सैद्धान्तिक विवेचन प्रारम्भ होता है। डेहरेन्डार्फ (Dehrendorf) और कोज़र (Coser) भी इसके प्रमुख सिद्धान्तकार हैं।

मार्क्स और ज़िम्मेल के सिद्धान्तों में अनेक समानतायें होते हुए भी उनमें प्रमुख भेद भी हैं। मार्क्स के अनुसार सामाजिक संघर्ष से सामाजिक परिवर्तन होता है। ज़िम्मेल के अनुसार सामाजिक संघर्ष से सामाजिक व्यवस्था संगठित होती है। दोनों सिद्धान्तकार सामाजिक संघर्ष के प्रकार्य (functions) के बारे में विपरीत मत रखते हैं। इन दोनों सिद्धान्तकारों के सिद्धान्तों की हम समानान्तर व्याख्या करेंगे।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

मार्क्स के समक्ष संसार के बारे में दो प्रश्न थे। पहला, संसार का मूल तत्त्व (essence) क्या है ? दूसरा, इस मूल तत्त्व की ज्ञानोग्यता (knowability) क्या है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर मार्क्स ने अपने दर्शन में दिया है। इन्हें अत्यन्त सरल ढंग से रखने के खतरे को स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि संसार का मूलतत्त्व गति (motion) है, और संसार को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विधि (dialectical-material method) द्वारा जाना जा सकता है। द्वन्द्वात्मक विधि (dialectics) यह मानती है कि वस्तुओं में गण (qualities) और गुणों में परस्पर सम्बन्ध होते हैं। गुणों के सम्बन्धों की मानसिक छाप को गति (motion) कहते हैं। किसी वस्तु में पाये जाने वाले समस्त सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों से गति और परिवर्तन का नियम प्राप्त होता है। मार्क्स का कहना है कि कोई भी घटना अलग-अलग नहीं होती। हर घटना या वस्तु का सम्बन्ध दूसरी घटनाओं और वस्तुओं से है। संसार देखने में अव्यवस्थित लगता है परन्तु उसका संचालन वस्तुपरक नियमों (objective laws) द्वारा होता है। संसार के नियम हमारी चेतना से पृथक् होते हैं। हमारी जानकारी और हमारे चाहने या न चाहने से

उनका सरोकार नहीं होता । वे मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं हैं संसार के नियम मनुष्य की चेतना से बाहर और पृथक् कार्य करते रहते हैं । मार्क्स के अनुसार यह 'डायलेक्टिक्स' का नियम है जो, प्रकृति, समाज सेवा और विचार, सभी पर समान रूप से लागू होता है ।

डायलेक्टिक्स (dialectics) के बुनियादी नियम

डायलेक्टिक्स या द्वन्द्व, गति का नियम है । गति से सम्बन्ध और अन्त-संम्बन्ध बनते हैं । अर्थात् गुणों में अन्तर आता है । गुणों में अन्तर आने से विरोधी तत्त्वों का संघर्ष होता है । अर्थात् गति से परिवर्तन होता है । समाज वैज्ञानिक की हैसियत से मार्क्स के समक्ष यह प्रश्न था कि क्या परिवर्तन का दिशा निर्देशन किया जा सकता है ? मार्क्स ने परिवर्तन की दिशा की अवधारणा भी दी है । साम्यवादी-व्यवस्था परिवर्तन को दिशा देने की कल्पना है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कुछ बुनियादी नियमों का हम मात्र परिचय दे सकते हैं ।

1. मात्रात्मक से गुणात्मक एवं गुणात्मक से मात्रात्मक परिवर्तन का नियम (the law of transformation of quantitative into qualitative change and vice-versa)

आग पानी नहीं है । दोनों अलग-अलग हैं । इनकी पृथकता का कारण इनमें व्याप्त गुण है । किसी वस्तु के सम्पूर्ण विशेषताओं के योग को गुण कहते हैं । अपने गुण के कारण ही एक वस्तु, दूसरे से, पृथक् होती है । किसी वस्तु का गुण उसकी संरचना से सम्बन्धित होता है । संरचना में साधारण परिवर्तन आने से गुण नहीं बदलते । संरचना में लगातार या एकाएक विघटन होने से मात्रा में परिवर्तन आता है । मात्रा में परिवर्तन आने से सम्बन्धों में परिवर्तन आता है । इस प्रकार गति से सम्बन्ध और सम्बन्ध से विकास का क्रम चलता रहता है ।

2. विरोधी तत्त्वों की एकता और संघर्ष का नियम
(law of unity and struggle of opposites)

इस नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु या प्रक्रिया में उसका अन्तर्विरोधी पक्ष निहित होता है । जैसे, जीवन के साथ मृत्यु । संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो समरस हो । हर वस्तु में उसका विरोधी पक्ष उपस्थित होता है । वस्तु में स्थिरता और स्थिरता का विरोधी तत्त्व (परिवर्तन) दोनों ही रहता है । प्रत्येक वस्तु स्थिरता और परिवर्तन का एकरूप (unity) है । परस्पर विरोधी तत्त्वों की एकरूपता (unity of opposites) होती है । दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है । परन्तु दोनों विरोधी तत्त्व एक दूसरे को समाप्त करने (mutual negation) में लगे रहते हैं । इससे संघर्ष होता है । संघर्ष से परि-

वर्तन होता है, और परिवर्तन से विकास होता है। मार्क्स ने यह भी कहा है कि प्रत्येक विपक्ष विरोधी (antagonistic) नहीं होता है। कुछ सम्बन्ध विरोधी (non-antagonistic) नहीं होते। इस अन्तर्विरोध को मार्क्स बुनियादी अन्तर्विरोध नहीं (non-basic contradictions) मानता।

3. बहिष्करण के बहिष्करण का नियम

(law of negation of negation)

इस नियम का अर्थ सरल भाषा में केवल इतना है कि एक इमारत को गिरा कर ही दूसरी इमारत बनायी जाती है। पूर्ववर्ती अवस्था को समाप्त करके उत्तरवर्ती अवस्था आती है। परिवर्तन और विकास का यही नियम है। बहिष्करण द्वारा एक स्थिति का विनाश होता है। बहिष्करण द्वारा ही नई स्थिति का प्रादुर्भाव होता है। अतः बहिष्करण के बहिष्करण की प्रक्रिया से विकास होता है, और पुराने सम्बन्धों की जगह पर नये सम्बन्धों का विकास होता है। मार्क्स के इस नियम को वाद (thesis), प्रतिवाद (antit-thesis) और समन्वयवाद (synthesis) के क्रम में रखा गया है। वाद (thesis) का अर्थ है प्रारम्भिक विकास। विकास होते ही अन्तर्द्वन्द्वों का टकराव, और उसके कारण, पहली स्थिति का बहिष्करण (समाप्त) होना। विकास क्रम में, प्रतिवाद की स्थिति ही समाप्त होकर समन्वयवाद (synthesis) में पहुँचती है। विकास क्रम यों ही चलता रहता है।

वाद (thesis)	प्रतिवाद (anti-thesis),	समन्वयवाद (synthesis)
विकास का प्रारम्भ	पहला बहिष्करण	दूसरा बहिष्करण

साम्यवादी व्यवस्था में बहिष्करण के नियम पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नियम के रूप में यह प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी।

4. इतिहास के वस्तुपरक नियम (objective logic of world history)

डायलेक्टिक्स के नियम प्रकृति और समाज दोनों पर लागू होते हैं। मानव इतिहास का विकास इन्हीं नियमों के अनुसार हुआ है। डायलेक्टिक्स के सभी नियम इतिहास के सन्दर्भ में, उत्पादन और उत्पादन की शक्तियों की रूपरेखा, निर्धारित करते हैं। इतिहास के विश्लेषण की यह पद्धति ऐतिहासिक भौतिकवाद (historical materialism) कही जाती है।

5. उत्पादक और उत्पादक शक्तियों के सहगामी सम्बन्ध का नियम

(law of correspondence of relations of production and production forces)

उपभोग और वितरण को उत्पादन-सम्बन्ध कहते हैं। उत्पादन जिन साधनों से होता है, उन्हें उत्पादक शक्तियाँ (productive forces) कहते हैं। जैसे,

टेक्नॉलाजी उत्पादक शक्ति है। उत्पादक शक्ति की विशेषताओं के अनुसार उत्पादन में परिवर्तन आता है। उत्पादन में परिवर्तन आने से उपभोग और वितरण के सम्बन्ध भी बदलते हैं। इस नियम के कुछ सामाजिक परिणाम निकलते हैं। उत्पादन सम्बन्ध जिस प्रकार के होंगे, उसी प्रकार की सामाजिक-आर्थिक रचना (formation) होगी। अतः मानव समाज विभिन्न प्रकार की सामाजिक-आर्थिक रचनाओं का स्वरूप है। क्रमानुसार एक प्रकार की सामाजिक-आर्थिक रचना समाप्त होकर दूसरे प्रकार की सामाजिक-आर्थिक रचना को जन्म देती है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन और उत्पादन शक्तियों (जिसमें मनुष्य का श्रम सम्मिलित है) के सहगामी सम्बन्ध से निम्नलिखित सामाजिक-आर्थिक रचनायें इतिहास में देखी जा सकती हैं।

(अ) आदिम जातीय सामुदायिक रचना
(the primitive communal formation)

प्रकृति के समक्ष मनुष्य असहाय था। सामूहिक रूप से श्रम करना आवश्यक था। यह रचना बदल कर कृषि अवस्था में परिणत हुई।

(ब) दास प्रथा पर आधारित समाज (slave-holding society)

आदिम जातीय समूहवाद (collectivity) समाप्त होकर वर्गसमाज बन गया। दासों के मालिक, और दास, दो सामाजिक वर्ग के रूप में प्रगट हुए। दासों को प्राप्त करने के लिए युद्ध होने लगे। दासों के श्रम से कृषि-उत्पादन का विकास हुआ।

(स) सामन्ती समाज (feudal society)

इस समाज में दो प्रमुख वर्ग हुए, एक भूमिपतियों का और दूसरा किसानों का।

(द) पूँजीवादी रचना (capitalist formation)

टेक्नॉलाजी के विकास के कारण, उत्पादन और उत्पादन के सम्बन्धों में, गुणात्मक और मात्रात्मक परिवर्तन हुए। पूँजीपति और व्यावसायिक वर्ग (bourgeois) शोषक वर्ग बन गये और मजदूर सर्वहारा वर्ग (proletariat) बन गया। यह दोनों वर्ग एक दूसरे के विरोधी हो गये। बुर्जुआज़ी और मजदूर वर्ग अपने वर्गीय हितों के लिये टकराने लगे।

(य) समाजवाद से साम्यवादी-समाज की ओर
(socialist to communist society)

वर्ग-संघर्ष का परिणाम यह होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था, समाप्त होकर, समाजवादी व्यवस्था में परिणत हो जायेगी। समाजवादी व्यवस्था में भी वर्ग

रह सकते हैं, परन्तु इनमें परस्पर विरोध नहीं होगा। धीरे-धीरे यह व्यवस्था भी बदलकर साम्यवादी समाज की ओर चल पड़ेगी।

एक संरचना का बदलकर दूसरे चरण में पहुँचना ऐतिहासिक आवश्यकता (historical necessity) है। मार्क्स के आलोचक, जिसमें सारोकिन जैसे विद्वान् भी सम्मिलित हैं, यह मानते हैं कि यह अवस्थायें आप-ही-आप, बिना किसी प्रयास के, विकसित होती रहेंगी। ऐतिहासिक आवश्यकता को 'ईश्वर की इच्छा' के समान बताया गया है। इन आलोचकों ने मार्क्स के सिद्धान्त के मूल-तत्त्व की उपेक्षा की है। मार्क्स का कहना है कि मानव-समाज, मनुष्य के परिश्रम का फल है, और इतिहास को मनुष्य का प्रयास ही बदलेगा। ऐतिहासिक आवश्यकता मनुष्य के प्रयासों का तार्किक परिणाम है। इसे समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि ऐतिहासिक क्रियाओं के कर्ता कौन होते हैं।

ऐतिहासिक क्रियाओं के कर्ता (subjects of historical activities)

ऐतिहासिक क्रियाओं के कर्ता जनसमुदाय (masses), वर्ग (classes), राजनैतिक दल (parties) और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति (outstanding individuals) होते हैं। जनसमुदाय के अन्तर्गत केवल मजदूर ही नहीं, बल्कि सभी कामगार लोग (all working people) सम्मिलित हैं। इसमें, कुछ अति उच्च-स्तरीय वर्ग के लोग सम्मिलित नहीं हैं। इतिहास को आगे बढ़ाने का कार्य जन समुदाय करता है। इसे प्रगतिवादी आन्दोलन कहते हैं। प्रगति का विरोध करने वाले प्रतिक्रियावादी कहे जाते हैं। जनसमुदाय को संगठित करने, और सामूहिक रूप से, कार्य कराने की भूमिका राजनैतिक दलों की होती है। राजनैतिक दल जनसमुदाय का संगठित रूप होता है। जनसमुदाय और सामाजिक वर्ग के अतिरिक्त विशेष व्यक्ति भी ऐतिहासिक भूमिका अदा करते हैं। मार्क्सवादी अति महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की भूमिका से इनकार नहीं करता। लेनिन, गांधी और नेहरू इस प्रकार के व्यक्तियों के उदाहरण हैं।

ऐतिहासिक क्रिया में सामाजिक वर्गों का विशेष योगदान होता है। मार्क्सवाद के अनुसार, ऐतिहासिक कारणों से उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत लगे हुए लोगों के समूह को सामाजिक वर्ग कहते हैं। उत्पादन की भिन्नता का आधार वर्गों की पृथकता का भी आधार होता है। समाज में जो बुनियादी द्वंद्व (basic contradictions) होते हैं, उन्हीं के आधार पर बुनियादी सामाजिक वर्ग भी गठित होते हैं। जैसे, पूँजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग, बुनियादी वर्ग है। शेष सभी वर्ग गैर-बुनियादी वर्ग (non-basic classes) होते हैं। इनमें किसान, दस्तकार, छोटे भूमिपति, बिचौलिया वर्ग, और बुद्धिजीवी वर्ग सम्मिलित किये

जा सकते हैं। सामाजिक गतिशीलता से वर्ग-व्यवस्था समाप्त नहीं होती, बल्कि वर्गों में दूरी बढ़ती है।

सामाजिक वर्गों में बुनियादी द्वन्द्व के कारण वर्ग-संघर्ष (class-struggle) होते हैं। वर्ग-संघर्ष का सबसे ऊँचा स्वरूप सामाजिक क्रान्ति (social revolution) है। जो वर्ग-क्रान्ति का प्रेरक और अगुआ होता है, उसी के अनुसार, क्रान्ति के परिणाम निकलते हैं। जब पुरानी उत्पादन शक्तियाँ बेकार हो जाती हैं और पुराने उत्पादन सम्बन्धों से प्रगति में अवरोध उत्पन्न होने लगता है तो वर्ग-संघर्ष छिड़ जाता है। क्रान्ति द्वारा राजतंत्र पर दूसरा वर्ग हावी हो जाता है और समाज पर शासन करने लगता है। क्रान्ति द्वारा स्थापित वर्ग-सत्ता को उलटने वाले वर्ग और लोग प्रति क्रान्तिकारी (counter revolutionary) कहे जाते हैं। मार्क्स के अनुसार क्रान्ति वह इंजन है जो इतिहास की गाड़ी को आगे बढ़ाता है। समाजवादी क्रान्ति जनसमूह की क्रान्ति होती है, और शक्ति का प्रयोग तब तक किया जाता है जबतक प्रति-क्रान्ति करने वाले वर्ग समाप्त नहीं होते। साम्यवादी व्यवस्था में छोटे-छोटे समूह स्वतः शासित होंगे, इसलिये राज्य के दमनकारी प्रकार्यों (functions) का अन्त हो जायेगा। अतः दमनकारी कार्य करने वाले राज्य का अन्त (withering away of state) हो जावेगा।

मार्क्स के सिद्धान्त की यथावत व्याख्या करने के बाद, हम मार्क्स के सामाजिक संघर्ष के सिद्धान्त और अवधारणाओं का सूत्रबद्ध विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

मार्क्स के सामाजिक संघर्ष का सिद्धान्त

सिद्धान्त का बौद्धिक उद्देश्य

सामाजिक सम्बन्धों और संगठन की व्याख्या करना मार्क्स का उद्देश्य था। किन्तु औद्योगीकरण से उत्पन्न सामाजिक असमानता और शोषण को समाप्त करना भी उसका उद्देश्य था। अतः मार्क्स की मुख्य बौद्धिक समस्या यह थी कि सामाजिक परिवर्तन को कैसे उचित ठहराया और स्वीकार कराया जाय। मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिये कृतसंकल्प था। उसके संघर्ष का सिद्धान्त यह बताता है कि पूँजीवादी व्यवस्था को कैसे मिटाया जाये और एक नई व्यवस्था को कैसे स्थापित किया जाये। मार्क्स के लिए सिद्धान्त का बौद्धिक स्वरूप भी भिन्न है। सिद्धान्त केवल बौद्धिक संतुष्टि के लिए नहीं होता। सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए जिसे व्यवहार में लाया जा सके। सिद्धान्त और व्यवहार (theory and practice) के मिले-जुले रूप को 'प्रेक्सिस' (praxis) कहते हैं। यदि समाज को व्यवहार से गतिमान किया जाये तो उसे और अच्छी तरह

समझा जा सकता है। यदि साँप कुण्डली मारकर बैठा हो तो यह उसकी स्थिर दशा होगी। यदि उसे छेड़कर गतिमान कर दिया जाये तो यह उसकी दूसरी दशा होगी। मार्क्स का कहना है कि समाज व्यवस्था को बिना छेड़े, बिना धक्का दिये और बिना द्वन्द्व तीव्र किये, अच्छी तरह समझा नहीं जा सकता। अतः सिद्धान्त और व्यवहार का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सामाजिक संघर्ष के लक्षण (nature of social conflict)

सामाजिक संघर्ष का सिद्धान्त डायलेक्टिक्स (dialectics) है। एक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में उनका विरोधी पक्ष भी सम्मिलित होता है। प्रत्येक समाज संरचना में उस रचना का विरोधी पक्ष भी सम्मिलित होता है। विरोध के कारण संघर्ष उत्पन्न होता है। सामाजिक विज्ञानों का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वे विरोध को समझें और संघर्ष को तीव्र करें। प्रत्येक सामाजिक रचना में संघर्ष के दो छोर होते हैं, एक तरफ शोषक वर्ग और दूसरी तरफ शोषित वर्ग। उनके संघर्ष से समाज परिवर्तित होता है।

आलोचना में कहा गया है कि मार्क्स समाज को आर्थिक संगठन का मात्र प्रतिबिम्ब मानता है। संघर्ष के केवल दो छोर नहीं होते। यह भी सही नहीं है कि संघर्ष से परिवर्तन हो ही जाता है। मार्क्स के सामाजिक संघर्ष के सिद्धान्त के कुछ निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :

1. सामाजिक सम्बन्ध व्यवस्थित होते हुए भी द्वन्द्वात्मक होते हैं।
2. तथ्यों से पता चलता है कि सामाजिक-व्यवस्था में संघर्ष भी व्यवस्थित होते हैं।
3. सामाजिक संघर्ष, सामाजिक-व्यवस्था में, अनिवार्य और व्याप्त होते हैं।
4. सामाजिक संघर्ष दो ध्रुवों में प्रगट होते हैं।
5. दुर्लभ वस्तुओं (scarce resources) के वितरण की समस्या, संघर्ष की मुख्य जड़ होती है।
6. संघर्ष सामाजिक परिवर्तन का मुख्य स्रोत है।

संघर्ष के परिवर्त्य (variables of conflict)

मार्क्स के अनुसार शोषण संघर्ष राजनैतिक संघर्ष ही होते हैं। संघर्ष का कारण विरोधी सामाजिक-वर्गों के हितों का टकराव होता है। संघर्ष के नियम 'डायलेक्टिकल' होने के कारण सार्वभौमिक नियम (universal laws) के समान होते हैं। मार्क्स के नियमों को निम्नलिखित सैद्धान्तिक सूत्रों में रखा जा सकता है :

1. दुर्लभ साधनों का वितरण जितना ही असमान होगा, प्रभु वर्ग (dominant class) और अधीनस्थ वर्ग (subordinate-class) में संघर्ष उतना ही तेज होगा।

2. अधीनस्थ वर्ग अपने सामूहिक-हित के प्रति जितना अधिक सचेत होगा, दुर्लभ साधनों के असमान वितरण के विरुद्ध उतना ही अधिक संघर्षरत होगा।

3. अधीनस्थ वर्ग उत्पादन के लाभ से जितना अधिक विरसित (alienated) या वंचित होगा, उतना ही अधिक अपने वर्ग-हित को पहचानेगा।

4. अधीनस्थ वर्ग अपने दुःख, कष्टों और शिकायतों को जितना अधिक प्रसारित करेगा, उसमें वर्ग-चेतना और एकता उतनी ही अधिक बढ़ेगी।

5. अधीनस्थ वर्ग जितना अधिक एक-दूसरे के निकट होंगे, उतनी ही अधिक उनमें सामूहिक हित के प्रति चेतना जागृत होगी।

6. शिक्षा और प्रसार के साधनों का अधीनस्थ वर्ग जितना अधिक प्रयोग करेगा, वर्गहित की चेतना उतनी ही अधिक जागृत होगी।

7. सामूहिक एकता की वैचारिकी (ideology) और विश्वास पद्धतियाँ जितनी अधिक विकसित होंगी, अधीनस्थ व्यक्ति उतना ही अधिक अपने सामूहिक हित के प्रति जागरूक होगा।

8. प्रभुवर्ग जितना अधिक अक्षम होगा, अधीनस्थ वर्ग संचार के साधनों से उतना ही अधिक लाभ उठायेगा।

पूर्वोक्त सैद्धान्तिक सूत्र मार्क्स के सामाजिक संघर्ष सिद्धान्त के नियमों की स्थापना करते हैं। आलोचकों का कथन है कि मार्क्स यह नहीं समझ सका कि विकसित पूँजीवाद किस प्रकार इन नियमों के संचालन में अवरोध उत्पन्न कर सकता है। मार्क्स का ऐसा सैद्धान्तिक अनुमान था कि वर्गहित चेतना के जागृत होते ही, सर्वहारा वर्ग संघर्ष छेड़ देगा। मार्क्स यह नहीं सोच सका कि पूँजीपति वर्ग भी संगठित होकर अपनी रक्षा कर सकता है। इस सम्बन्ध में प्रभु-वर्ग की क्षमता एक परिवर्त्य के रूप में कार्य करती है। प्रभु-वर्ग जितना अधिक असंगठित होगा, अधीनस्थ वर्ग उतना ही अधिक संगठित होकर संघर्ष करेगा। मार्क्स का यह भी अनुमान है कि अधीनस्थ वर्ग जितना सक्षम नेतृत्व उत्पन्न करेगा, संघर्ष भी उतने ही संगठित ढंग से चलेगा।

पूर्वोक्त सभी नियमों को सहगामी परिवर्त्य (co-variance) के रूप में समझा जा सकता है। अर्थात् जब एक परिवर्त्य (variable) बढ़ता या घटता है तो उसके साथ दूसरा परिवर्त्य भी बढ़ता या घटता है। जैसे-जैसे वर्ग-चेतना

बढ़ेगी, उसी मात्रा में, संघर्ष भी बढ़ेगा। अधीनस्थ वर्ग जितना अधिक वंचित रहेगा, उसमें वर्ग हित की चेतना उतनी ही अधिक बढ़ेगी। अधीनस्थ वर्ग अपने हितों का संचार जितना अधिक करेगा, उसका संगठन उतना ही अधिक बढ़ेगा। इस प्रकार के सैद्धान्तिक तर्क वाक्यों में दो परिवर्त्यों का कार्य-कारण (cause-effect) सम्बन्ध बताया गया है। एक के बढ़ने-घटने का प्रभाव, दूसरे कारक के घटने-बढ़ने पर पड़ता है।

संघर्ष की तीव्रता (degree of violence)

समाज में प्रभु-वर्ग और अधीनस्थ वर्गों का ध्रुवीकरण (polarization) होता है। मार्क्स के अनुसार संघर्ष की तीव्रता को सैद्धान्तिक सूत्रों में बाँधा जा सकता है :

1. अधीनस्थ वर्गों में एकता जितनी अधिक होगी और उनका राजनैतिक नेतृत्व जितना अधिक विकसित होगा, संघर्ष उतना ही तीव्र होगा।

2. समाज में प्रभु-वर्गों और अधीनस्थ वर्गों का ध्रुवीकरण जितना अधिक होगा, संघर्ष भी उतना तीव्र होगा।

3. संघर्ष जितना ही अधिक तीव्र होगा, सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन उतनी ही अधिक मात्रा में आयेगा और दुर्लभ वस्तुओं का पुनर्वितरण होगा।

क्रान्ति की सफलता में मार्क्स को विश्वास था और यह बात वैचारिकी (ideology) के रूप में कही गयी है। मार्क्स की सैद्धान्तिक आलोचना निम्न-लिखित आधारों पर की गयी है :

1. परिवर्त्यों (variables) के अन्तर्सम्बन्धों को मार्क्स स्पष्ट नहीं कर सका। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किस प्रकार की असमानता से किस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं।

2. किस प्रकार की जागृति से, किस प्रकार के बाहरी तीव्र संघर्ष प्रस्फुटित होते हैं।

3. किस प्रकार के ध्रुवीकरण से किस प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है और उस संघर्ष से किस प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तन आते हैं।

सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में मार्क्स की आस्था थी। व्यवहार के अभाव में सिद्धान्त खोखले होते हैं। वह सामाजिक सिद्धान्त उपयोगी नहीं है जो सामाजिक समस्याओं के समाधान में योगदान न कर सकता हो। पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण और उत्पीड़न से मार्क्स अवश्य इतना अधिक प्रभावित था कि उसने एक संघर्षरहित समरस समाज की कल्पना की। अपने समय की पूंजीवादी व्यवस्था के गहरे संकट को देखकर मार्क्स ने कई भविष्यवाणियां कीं। आलोचकों

का कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था के क्षीण होने की मार्क्स की भविष्यवाणी शत-प्रतिशत सही नहीं उतरी। इस चूक के आधार पर वे मार्क्सवादी सिद्धान्त की सैद्धान्तिकता को चुनौती देते हैं। मार्क्स के सम्बन्ध में अधिकांश आलोचनाएँ यांत्रिक (mechanical) लगती हैं। आलोचनाओं में दो भ्रम व्याप्त हैं। पहला, आलोचक मार्क्स के सिद्धान्त को यन्त्र के समान सीधा चलने वाला मानते हैं। दूसरा, मध्यस्थ अवस्थाओं के कारण भविष्यवाणी टल तो सकती है, परन्तु असत्य नहीं हो सकती। मरणासन्न मरीज, इलाज और उपाय से काया-कल्प करके और अधिक दिनों तक जी सकता है, परन्तु मृत्यु से बच नहीं सकता। इसी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था अपने संकट को टालकर कुछ दिनों और जीवित रह सकती है, परन्तु व्यवस्था के रूप में, उसका अन्त होता ही है। मार्क्स के सिद्धान्त की बुनियादी अवधारणाएँ अब आलोचना का विषय नहीं रह गयीं। समाज वैज्ञानिक जगत् में मार्क्सवादी स्थापनाओं को, कुछ हेर-फेर के साथ, सामान्य रूप से अंगीकृत कर लिया गया है। इस तरह की स्थापनाओं में सामान्य सहमति पायी जाती है, जैसे, समाज का बुनियादी आधार आर्थिक होता है; समाज में असमानताएँ होती हैं; वर्ग न सही सामाजिक 'स्टेटस' की भिन्नता को सभी स्वीकार करते हैं। शक्तिशाली लोग शोषण करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में गहरा संकट है।

मार्क्सवादी सिद्धान्त जहाँ मात खा जाता है, वह क्षेत्र उप-संरचना (super structures) का है। बुनियादी आर्थिक-संरचना पर विचार, विश्वास, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला और मूल्य आदि किस प्रकार समाज को प्रभावित करते हैं, इसका भरपूर मार्क्सवादी विवेचन मार्क्स द्वारा नहीं किया जा सकता है। लेकिन मार्क्स ने उप-संरचना (super-structure) के महत्त्व को नकारा नहीं है। एंजिल्स को लिखे गये एक पत्र में मार्क्स ने यह संकेत किया है कि "मेरे सिद्धान्त को पूर्ण रूप से न समझने वाले मेरी यह आलोचना करते हैं कि मैं विचारों की दुनिया को महत्त्व नहीं देता"। अभी तक मार्क्सवादी सिद्धान्त में इन पक्षों को समुचित स्थान नहीं मिल पाया है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी पूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है। कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं होता।[1]

मार्क्सवादी सिद्धान्त को कुछ लोग कार्यविधिकी (methodology) अधिक और सिद्धान्त कम मानते हैं। उनके लिए मार्क्सवादी सिद्धान्त मूलतः एक ऐसी मौलिककार्यविधिकी है, जिसके द्वारा संसार और समाज का विश्लेषण किया

1. मार्क्सवाद की अल्थूसर और गोडेलियर ऐसे विचारकों की समीक्षा यहाँ सम्भव नहीं है।

जा सकता है। मनुष्य के व्यवहार के मनोवैज्ञानिक पक्ष के साथ, यदि मार्क्सवादी नियमों का सहारा लेते हुए, सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण किया जाय तो कटु-सत्य प्रगट होंगे। कटु-सत्य का मुकाबला करना इसलिए कठिन हो जाता है कि बहुत से भ्रम और जीवन के आधार टूटने लगते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में जीवन अर्थविहीन (meaningless) लगने लगता है। ज्ञान के इस बिन्दु पर पहुँच कर, अधिकांश लोगों के लिए, न तो वैज्ञानिक रहना सम्भव होता है, न मार्क्सवादी। ऐसे लोग किसी शक्ति, सत्ता या विचार या व्यक्ति या संस्था के शरणागत होना पसन्द करते हैं।

मार्क्स के सिद्धान्त से कुछ समाजवैज्ञानिकों का मतभेद मात्र इतना है कि समाज से शोषण कभी समाप्त नहीं होगा। ऐसा वे इसलिए कहते हैं कि मार्क्स की प्रगतिवादी अवधारणा में एक बिन्दु शोषण-रहित समाज का भी है। उनकी समझ से शोषण-रहित होना समाज का मौलिक चरित्र नहीं है। मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आस्था रखते हुए भी इन लोगों का उसके स्वप्नचिन्ता पक्ष पर सन्देह होता है। यद्यपि इसे स्वप्नचिन्तन (utopia) न कहकर वैज्ञानिक समाजवाद और साम्यवाद की अवधारणा से व्यक्त किया जाता है।

शोषण की मात्रा और उसका चरित्र तो बदल सकता है, मगर समाज से शोषण समाप्त नहीं हो सकता।

जार्ज ज़िम्मेल (George Simmel)

ज़िम्मेल की बौद्धिक परम्परा मार्क्स से भिन्न है। ज़िम्मेल की सामाजिक जगत् की अवधारणा मार्क्स से भिन्न है और सामाजिक संघर्ष के प्रकार्य (function) के बारे में दोनों विद्वानों के मत अलग-अलग हैं। फिर भी दोनों के सिद्धान्तों में कुछ समानान्तरण अवधारणाएँ हैं। समाज विज्ञान में दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं। इसलिए मार्क्स के साथ ज़िम्मेल के सिद्धान्त की व्याख्या करना आवश्यक है।

ज़िम्मेल के सिद्धान्त का बौद्धिक उद्देश्य

ज़िम्मेल आकारवादी (formalistic) सिद्धान्तकार है। आकार (form) और अन्तर्वस्तु (substance) में अन्तर स्थापित करते हुए, ज़िम्मेल ऐसे सार्वभौमिक सिद्धान्त (universal laws) की स्थापना करना चाहता है जो स्थिति और समय (space-time) के बन्धन से मुक्त हों। विभिन्नताओं में एकरूपता की स्थापना करना ज़िम्मेल का उद्देश्य है। अतः उसके समाजविज्ञान को शुद्ध समाजविज्ञान (pure sociology) की संज्ञा दी जाती है। जिस प्रकार व्याकरण

भाषा का शुद्ध आकार है उसी प्रकार ज़िम्मेल के नियम समाज के शुद्ध आकार हैं। इसके विपरीत मार्क्स का सिद्धान्त ऐतिहासिक काल से जुड़ा हुआ है। ऐतिहासिक काल के सन्दर्भ में मार्क्स का सिद्धान्त अनोखा (unique) है, वह अन्तिम नहीं है। ज़िम्मेल सामाजिक घटनाओं का निष्क्रिय निरीक्षक है। वह समाज का मात्र निरीक्षण करना चाहता है। मार्क्स की तरह सामाजिक प्रक्रिया को छेड़ना नहीं चाहता। इस कारण दोनों विद्वानों को बौद्धिक दृष्टि एक दूसरे से भिन्न है।

सामाजिक संघर्ष के लक्षण

मार्क्स के अनुसार संघर्ष से उत्पन्न परिवर्तन को एक दिशा होती है, जबकि ज़िम्मेल ऐसा नहीं मानता। ज़िम्मेल यह भी नहीं मानता कि संघर्ष का कारण प्रभु-वर्ग और अधीनस्थ वर्ग हैं। ज़िम्मेल के अनुसार, मनुष्य की शारीरिक बनावट (biological make up) के कारण संघर्ष होता हैं। मनुष्य के स्वभाव में सहयोगात्मक तथा असहयोगात्मक (associative and disassociative) प्रवृत्तियाँ होती हैं। मनुष्य में घृणा, प्रेम और लड़ाकू प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं।

ज़िम्मेल के अनुसार संघर्ष का कार्य समाज को निरन्तर संगठित रखना है। संघर्ष में केवल स्वार्थों का टकराव ही नहीं होता बल्कि कुछ और भी होता है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक संघर्ष समाज की व्यवस्था को सुदृढ़ भी बनाते हैं। ज़िम्मेल का यह मत मार्क्स के मत के विपरीत है। ज़िम्मेल का कथन है कि संघर्ष से सर्वदा परिवर्तन नहीं होता। संघर्ष से सम्पूर्ण समाज को (social whole) संगठनात्मक बल मिलता है।

सामाजिक सम्बन्धों में सहयोगात्मक और असहयोगात्मक प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। ज़िम्मेल का कहना है कि मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव के कारण तो संघर्ष होते ही हैं, लेकिन सामाजिक सम्बन्धों के कारण भी संघर्ष होते हैं। ज़िम्मेल के अनुसार सामाजिक संघर्ष के कारण दो होते हैं, व्यक्ति की संघर्षशील मूल प्रवृत्ति और सामाजिक सम्बन्धों के प्रकार। दोनों मिल कर संघर्ष को आवश्यक घटना बनाते हैं।

संघर्ष के परिवर्त्य (variables of conflict)

संघर्ष की व्याख्या करने में परिवर्त्यों के निम्नलिखित तीन भेद किये जा सकते हैं :

(अ) समाज में नियमन (regulation) की मात्रा

(बी) सीधे संघर्ष की मात्रा

(स) संघर्षरत पक्षों में तीव्रता की मात्रा

यदि नियमन की मात्रा समाज में अधिक होगी तो संघर्ष, स्पर्द्धा (competi-

tion) होकर रह जायेगा। इन सभी परिवर्त्यों का प्रभाव समाज के ऊपर पड़ता है। यदि नियमन अधिक है तो संगठन बढ़ेगा। यदि हिंसा अधिक है तो संगठन घटेगा।

संघर्ष के सैद्धान्तिक सूत्र

ज़िम्मेल के संघर्ष के सिद्धान्त को निम्नलिखित सैद्धान्तिक सूत्रों में रखा जा सकता है :

1. संघर्षरत दलों का, संघर्ष में, जितना अधिक संवेगीय लगाव होगा, संघर्ष उतना ही अधिक तीव्र होगा। अर्थात् संघर्षरत दलों में परस्पर जितनी ही घृणा, क्रोध, वैमनस्यता आदि के भाव होंगे, संघर्ष उतना ही अधिक हिंसात्मक होगा।

2. संघर्षरत दल, संघर्ष के दौरान, आपस में जितने ही अधिक संगठित होंगे, संघर्षात्मक मुकाबले में, वे उतने ही अधिक भावावेश में आकर व्यवहार करेंगे।

3. संघर्षरत समूह के सदस्य जितनी अधिक मात्रा में अपने निजी हितों का त्याग करेंगे, संघर्ष में, वे उतना ही अधिक भावावेश से व्यवहार करेंगे।

4. यदि संघर्ष का उपयोग, किसी उद्देश्य (end) की पूर्ति में साधन (means) के रूप में प्रयोग किया जायेगा तो, संघर्ष कम तीव्र होगा।

ज़िम्मेल का यह सूत्र विवादास्पद है।

ज़िम्मेल के सैद्धान्तिक सूत्र मार्क्स के सैद्धान्तिक सूत्रों से मिलते-जुलते हैं। मार्क्स ने कहा है कि वर्ग-चेतना जितनी अधिक होगी, संघर्ष उतना ही तीव्र होगा। ज़िम्मेल ने कहा है कि संघर्षरत दलों में भावावेश जितना अधिक होगा, संघर्ष उतना ही तीव्र होगा। मार्क्स और ज़िम्मेल के सिद्धान्त में एक भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ज़िम्मेल का विश्वास है कि संघर्ष का लक्ष्य स्पष्ट हो जाने से, संघर्ष की तीव्रता घट जाती है, जबकि मार्क्स का कथन है कि संघर्ष का लक्ष्य स्पष्ट हो जाने के बाद संघर्ष की तीव्रता बढ़ जाती है। ज़िम्मेल द्वारा सैद्धान्तिक व्याख्या में कहा गया है कि संघर्ष का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है तो संघर्षरत दल यह देखते हैं कि लक्ष्य की प्राप्ति के कितने विकल्प हैं। यदि एक से अधिक विकल्प हैं तो संघर्षरत दल इस पर विचार करते हैं कि प्रत्येक विकल्प को अपनाने के बाद 'संघर्ष की कीमत क्या चुकानी पड़ेगी।' मानव स्वभाव के अनुकूल, संघर्षरत समूह उस विकल्प को चुनेंगे जिसके लिए 'कम-से-कम कीमत चुकानी पड़े।' कम-से-कम कीमत चुकाने का अर्थ होगा कि संघर्ष द्वारा अहिंसा और तीव्रता के विकल्प को नहीं चुना जायेगा। इसलिए ज़िम्मेल का यह कथन सिद्ध होता है कि

संघर्ष का लक्ष्य स्पष्ट हो जाने से संघर्ष की तीव्रता घट जाती है। आधुनिक श्रम और प्रबन्धक के सन्दर्भ में जिम्मेल का यह कथन व्यावहारिक प्रतीत होता है। बोनस बढ़ाने के लिए यदि किसी कारखाने का मजदूर-संघ संगठित होकर संघर्ष करना चाहे तो उसका स्पष्ट लक्ष्य होगा 'बोनस की मात्रा में वृद्धि।' मजदूर संघ के सदस्यों के समक्ष इस लक्ष्य की पूर्ति के तीन विकल्प होंगे—तोड़-फोड़, हड़ताल, प्रबन्धकों से वार्तालाप। अगर वार्तालाप से लक्ष्य पूरा हो जाता है तो तोड़-फोड़ और हड़ताल की नौबत नहीं आयेगी। जहाँ संघर्ष के लक्ष्य अस्पष्ट होते हैं, वहाँ फ्रस्ट्रेशन की मात्रा अधिक होती है। इस कारण संघर्ष तीव्र होते हैं।

संघर्ष के परिणाम या प्रकार्य (functions)

जिम्मेल के अनुसार संघर्ष का परिणाम संघर्षरत दलों और पूरे समाज पर पड़ता है। संघर्ष के परिणामों को सूत्र के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

1. संघर्ष के परिणामस्वरूप संघर्षरत दलों की एकता बढ़ती जाती है।

2. संगठित होकर संघर्षरत दल जब प्रयास करते हैं तो तीव्र संघर्ष की मात्रा घटती है। ऐसा इसलिए होता है कि संगठित दल की मात्र धमकी से ही लक्ष्य प्राप्त हो जाता है और तीव्र संघर्ष या हिंसा की नौबत नहीं आती है। दलों के संगठित होने और लक्ष्य के स्पष्ट होने से संघर्ष की तीव्रता और हिंसात्मक अभिव्यक्ति में कमी आती है। जिसके कारण संघर्ष से सामाजिक एकीकरण (integration) बढ़ता है। मार्क्स का मत इसके विपरीत है। दलों के संगठित होने से संघर्षों का ध्रुवीकरण होता है और हिंसात्मक अभिव्यक्ति अधिक होती है।

3. संघर्षरत दलों में संघर्ष जितना ही तीव्र होगा, उन दलों का संगठन और उनकी आन्तरिक व्यवस्था, उतनी ही अधिक संगठित होगी।

4. संघर्षरत दल जितने ही कम संगठित होंगे, और अगर संघर्ष की मात्रा तीव्र होगी, तो दलों में तानाशाही की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

5. संघर्ष जितना ही तीव्र होगा, संघर्षरत दलों की आन्तरिक व्यवस्था उतनी ही अधिक संगठित होगी।

6. यदि संघर्ष तीव्र होगा और संघर्षरत दल छोटे या अल्पसंख्यक होंगे तो उनमें आन्तरिक एकता बढ़ेगी। संघर्षरत दल जब आत्मरक्षा (self-defence) के लिए संघर्ष करेगा तो उसमें एकता अधिक होगी।

जिम्मेल ने संघर्ष की तीव्रता और सामाजिक व्यवस्था के संगठन पर भी प्रकाश डाला है। जिम्मेल का मौलिक योगदान यह है कि सामाजिक संघर्ष से

सामाजिक व्यवस्था की संगठनात्मक एकता बढ़ती है। सैद्धान्तिक सूत्रों के रूप में इसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित है :

1. संघर्षरत समूहों में शक्ति-सन्तुलन जितना कम होगा, (समूहों की शक्ति की मात्रा कम या अधिक होने से) संघर्ष उतने ही कम तीव्र होंगे और उनके परिणामों से सामाजिक व्यवस्था का संगठन बढ़ेगा। क्योंकि, संघर्ष तीव्र नहीं होंगे।

2. संघर्ष की मात्रा जब कम होगी और संघर्षरत समूहों की संख्या अधिक होगी तो सामाजिक संगठन बढ़ेगा। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या यह है कि निरन्तर संघर्षरत रहने से समूहों में संवेगीय उबाल उठता रहेगा, दिल की भड़ास निकलती रहेगी। भावनाओं की निकासी के कारण समाज की एकता भंग नहीं होने पावेगी।

3. जिस समाज में संघर्षों की बारम्बारता अधिक होगी, वहाँ संघर्ष को नियमानुसार चलाने की प्रवृत्ति बढ़ जायेगी।

4 जिस समाज के अंग एक दूसरे पर जितने अधिक निर्भर रहेंगे, वहाँ संघर्ष का परिणाम संगठनात्मक होगा। कुल मिलाकर जिम्मेल का सिद्धान्त यह बताता है कि सामाजिक संघर्षों से पूरे समाज में एकीकरण (integration) बढ़ता है।

सारांश

मार्क्स और जिम्मेल के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मार्क्स सामाजिक संघर्ष को अनिवार्य घटना मानता है, जबकि जिम्मेल सहयोगात्मक और असहयोगात्मक दोनों ही प्रवृत्तियों को महत्त्व देता है। मार्क्स के समान, जिम्मेल संघर्ष को एकमात्र सामाजिक प्रक्रिया नहीं मानता। मार्क्स की स्थापना के अनुसार वर्गीय चेतना और वर्ग संगठन से संघर्ष तीव्र और हिंसात्मक होते हैं। जब कि जिम्मेल के अनुसार संघर्षरत दलों के संगठित होने और संघर्ष के लक्ष्य से स्पष्ट होने से संघर्ष की तीव्रता कम होती जाती है। उद्‌गारों के प्रस्फुटित होने से संघर्षों की तीव्रता कम होती है। यदि समाज के अंग एक दूसरे पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर (functionally interdependent) हों तो, संघर्ष से सामाजिक व्यवस्था में एकता और संगठन उत्पन्न होता है।

मार्क्स के अनुसार संघर्ष से समाज परिवर्तित होता है। जिम्मेल के अनुसार प्रत्येक संघर्ष परिवर्तन नहीं लाता है।

राल्फ डेहरन्डार्फ (Ralf Dahrendorf)

सामाजिक संघर्ष सिद्धान्त में डेहरन्डार्फ के योगदान को आजकल विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सामाजिक वर्ग और संघर्ष की मार्क्स की अवधारणाओं

से डेहरन्डार्फ सहमत नहीं है। समाज के 'असुन्दर पत्ते' की विवेचना आवश्यक है। समाज व्यवस्थित और सुन्दर ही नहीं बल्कि असुन्दर और संघर्षपूर्ण भी है। डेहरन्डार्फ संघर्ष को समाज का मुख्य अंग मानते हैं, मगर मार्क्स के इतिहास के सिद्धान्त को नहीं मानता। डेहरन्डार्फ का कहना है कि वर्ग-संघर्ष अनिवार्य नियम नहीं है। कहीं वर्ग-संघर्ष हो सकते हैं, कहीं नहीं भी हो सकता है। वर्ग-संघर्ष तो तथ्यगत घटना है। डेहरन्डार्फ का विचार है कि मार्क्स ने शक्ति को सम्पत्ति से जोड़कर समझने में भूल की है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मिटा देने के बाद भी, शक्ति और शक्ति से उत्पन्न प्रभाविता का अन्त नहीं होता। शक्ति के प्रभाव से दबाने वाले और दबने वाले फिर भी समाज में बने रहते हैं। मार्क्स की आलोचना में डेहरन्डार्फ ने दो प्रमुख बिन्दु रखे हैं।

पहला, मार्क्स के अनुसार आदिम जातीय समाज मुक्त था। किसी को किसी पर प्रभुसत्ता नहीं थी। न श्रम विभाजन था, न सम्पत्ति थी, न शोषण था, न वर्ग थे, न संघर्ष था। जीवन सूना और सपाट था। व्यक्तिगत सम्पत्ति के सृजन के साथ श्रम विभाजन बढ़ा और असमानता उत्पन्न हुई। मनुष्य विरसित हो गया। अगर समाज वर्गरहित और शोषणहित हो जाये तो मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र और अविरसित हो जायेगा। मार्क्स ने यह भी कहा कि असमान वर्गों में विभाजित समाज में वर्ग-संघर्ष होता है, जिसके कारण परिवर्तन होता है। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति-वर्ग और मजदूर-वर्ग (सर्वहारा वर्ग) परस्पर विरोधी होते हैं। डेहरन्डार्फ का कहना है कि वर्ग तो होते हैं मगर उनमें वर्गीय चेतना या सामान्य हित की भावना अनिवार्य रूप से नहीं पायी जाती। सामाजिक वर्ग अपना हित जानता-समझता है, यह मात्र आस्था है, तथ्य नहीं। मार्क्स ने इसी आस्था पर इतिहास का सिद्धान्त बना डाला जो कि एक प्रकार का तत्त्वदर्शन हो सकता है, वास्तविकता नहीं। डेहरन्डार्फ की आलोचना ईमानदाराना नहीं है। मार्क्स यह नहीं कहता है कि वर्गीय चेतना आप-ही-आप जन्मजात गुण की तरह जागृत हो जायेगी। वर्गीय चेतना को जगाने का कार्य कम्युनिस्ट पार्टी और कुछ लोग करेंगे।

दूसरा, मार्क्स वर्ग को समरस मानता है जब कि वास्तविकता यह है कि एक ही वर्ग में कई भिन्न स्तर होते हैं। उन स्तरों में एकता भी नहीं होती। अतः वर्गों का ध्रुवीकरण नहीं होता। सामाजिक गत्यात्मकता (श्रेणी क्रम में ऊपर चढ़ने या नीचे गिरने की प्रक्रिया) के कारण भी वर्गीय एकता सम्भव नहीं है। यह आलोचना भी वर्ग चेतना वर्ग-हित को स्वीकार नहीं करती। मार्क्स के विचारों का मात्र शाब्दिक अर्थ लगाने वाले मार्क्स के सिद्धान्त के मूल तत्त्व

को नहीं समझ पाते, डेहरन्डार्फ भी उन्हीं में से एक हैं। मार्क्स ने स्वर्गलोक की कल्पना नहीं की है, जहाँ मनुष्य देवता होगा। शोषण और असमानता के भौतिक आधारों को समाप्त करने की व्यावहारिक बात मार्क्स ने की है।

डेहरन्डार्फ ने भी अपने एक लेख (Market and Plan, 1968) में स्वीकार किया है कि शक्ति और शक्ति का विरोध वह संघर्ष है जो इतिहास का संचालन करता है और इस संघर्ष से संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं। मगर डेहरन्डार्फ यह बताना चाहता है कि यह संघर्ष कहाँ-कहाँ होता है, संघर्ष का स्थान कहाँ है।

सामाजिक वर्ग, असमानता और संघर्ष

संरचना-प्रकार्यवाद को डेहरन्डार्फ स्वप्नचिन्तन मानता है। प्रकार्यवादी मानते हैं कि समाज का मूल गुण 'संगठन' है और समाज एक व्यवस्था है। डेहरन्डार्फ इसके विपरीत समाज में संघर्ष और प्रभाविता व्याप्त मानता है। प्रकार्यवादी और डेहरन्डार्फ के विचारों में जो मौलिक अन्तर है उसे निम्नलिखित तालिका द्वारा समझा जा सकता है।

संरचना-प्रकार्यवाद	डेहरन्डार्फ
(अ) प्रत्येक समाज में निरन्तर बने रहने वाले स्थायी अंग होते हैं।	(अ) प्रत्येक समाज, अपने हर बिन्दु पर, निरन्तर परिवर्तनशील है।
(ब) प्रत्येक समाज अङ्गों का संकुल है।	(ब) प्रत्येक समाज में संघर्ष और मत-विरोध व्याप्त है।
(स) समाज के प्रत्येक अङ्ग का प्रकार्य ऐसा होता तो समाज-व्यवस्था को संगठित रखने में सहायक होता है।	(स) समाज का प्रत्येक अंग समाज को तोड़ता और परिवर्तित करता है।
(द) प्रत्येक समाज की संरचना मूल्यों के प्रति मतैक्य पर आधारित होती है।	(द) प्रत्येक समाज में कुछ सदस्य दूसरे सदस्यों के प्रति बल प्रयोग करते हैं।

डेहरन्डार्फ के विचारों का परीक्षण करना यहाँ आवश्यक नहीं है। मगर इतना समझना आवश्यक है कि डेहरन्डार्फ मानव-समाज को संरचना 'शक्ति और सत्ता की रचना' मानता है।

डेहरन्डार्फ असमानता का आधार सम्पत्ति को नहीं मानता है। वह यह मानता है कि समाज 'नैतिक समुदाय' (moral cummunity) होता है। सदस्यों

से यह आशा की जाती है कि समाज द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को वे प्राप्त करें। अगर वे लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते तो समाज उनकी उपेक्षा करता है। लक्ष्य प्राप्त करने वालों को सराहना करता है। समाज की आशा के अनुकूल कुछ लोग लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं और कुछ लोग ऐसा नहीं कर पाते हैं। समाज के लक्ष्य प्रबल प्रतिमानों (ruling norms) द्वारा निर्धारित होते हैं, जो सदस्य लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते वे सत्ता द्वारा दबाये जाते हैं। असमानता न मानवीय कारणों से है, न भौतिक कारणों से। समाज द्वारा प्रत्याशित लक्ष्यों को प्राप्त करने या न करने से, असमानता उत्पन्न होती है। जिसके पास अधिक शक्ति होगी, वह लक्ष्य प्राप्त कर लेगा, जिसके पास शक्ति कम होगी वह लक्ष्य प्राप्ति में उतना ही कम सफल होगा। मगर शक्ति की असमानता क्यों है ? डेहरन्डार्फ इसका उत्तर नहीं देता बल्कि शक्ति की असमानता को मानकर चलता है।

प्रकार्यवादी विचारक सामाजिक संघर्ष को प्रतिष्ठा और आमदनी का परिणाम मानते हैं। डेहरन्डार्फ के लिए संघर्ष शक्ति की असमानता का परिणाम है। संघर्ष से एक बड़ी शक्ति उत्पन्न होती है जिसका नाम है—'प्रतिद्वन्द्विता' (contest) या अपनी इच्छा को दूसरों पर, उनकी इच्छा के विपरीत, लादना। जब बहुत से लोग अपने हितों की पूर्ति नहीं कर पाते हैं तो सामूहिक रूप से, दूसरे समूह से, प्रतिद्वन्द्विता करते हैं। इसे वर्ग-संघर्ष कहते हैं।

डेहरन्डार्फ का कथन सत्य है कि जिनके पास शक्ति नहीं है, वे 'सुअवसर के वितरण' (सामाजिक श्रेणीक्रम में ऊपर चढ़ना) में पीछे ढकेल दिये जाते हैं। आजकल सफेदपोश कर्मचारी भी अपना भाग्य मजदूरों के समान पाते हैं और वे भी मजदूर संघ के रास्ते पर चलकर प्रतिद्वन्द्विता कर रहे हैं। मगर, समाज में गत्यात्मकता के सुअवसर (opportunity) सबके लिए समान रूप से खोल दिये जायें फिर भी सामाजिक समानता का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। जिसके पास शक्ति होगी, वह बाजी मार ले जायेगा। इसलिए डेहरन्डार्फ का मत है कि सामाजिक गतिशीलता (social mobility) से समानता नहीं उत्पन्न होती है।

कार्ल मार्क्स की तरह, डेहरन्डार्फ भी स्वीकारता है कि संघर्ष से सामाजिक परिवर्तन होता है। संघर्ष और सामाजिक परिवर्तन में कारण-कार्य का सम्बन्ध बताने वाले भूल जाते हैं कि संघर्ष से परिवर्तन के रास्ते में रोड़े भी उत्पन्न होते हैं। हर संघर्ष से परिवर्तन नहीं होता। संघर्ष से संरचना बदलती है, मगर संरचना के बदलने से भी संघर्ष उत्पन्न होता है।

लेविस ए० कोज़र (Lewis A. Coser)

संघर्ष का संगठनकारी पक्ष

सामाजिक संघर्ष की भूमिका विघटनकारी ही नहीं बल्कि संगठनकारी भी होती है। अगर दो देशों में युद्ध छिड़ जाये तो दोनों ही अपने आन्तरिक भेदभाव भुलाकर एकजुट हो जाते हैं। फिर, संघर्ष की कीमत भी चुकानी पड़ती है। अगर संघर्ष के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ती है तो, कुछ कम पर ही समझौता कर लेना उचित होता है। आज की सरकारें अत्यधिक संगठित होती हैं और हिंसात्मक संघर्ष को कहीं अधिक हिंसा से दबाती हैं। अतः संघर्ष करने वालों को संघर्ष के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ती है। आज के जनतांत्रिक समाज में समझौता, वार्ता और अदालती कार्यवाही के इतने अधिक विकल्प खुले हुए हैं कि संघर्ष हिंसामूलक नहीं हो पाता। कम हिंसामूलक संघर्ष से सामाजिक एकता बढ़ती है। ऐसी ही कुछ अवधारणाओं के कारण कोज़र का संघर्ष का सिद्धान्त समाजविज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। कोज़र ने प्रकार्यवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि संघर्ष को समाज का रोग समझना भूल है और संघर्ष को समाज के अध्ययन में उचित स्थान न देना, यथार्थ से मुँह मोड़ना है। सामाजिक संघर्ष के स्वीकारमूलक पक्ष (positive aspect) की अच्छी विवेचना करते हुए, कोज़र ने संघर्ष के संगठनात्मक और समायोजनात्मक (integrative and adaptive functions) प्रकार्यों की भूमिका पर प्रकाश डाला है।

कोज़र समाज को शरीर-संगठन के समान मानता है। शरीर के किसी अंग में दर्द का होना शरीर में खराबी का सूचक है। दर्द दूर करने से शरीर स्वस्थ हो जायेगा। समाज के शरीर में संघर्ष भी दर्द के समान है। संघर्ष के सुलझने से समाज पुनर्संगठित होता है। कोज़र के अनुसार :

1. विभिन्न अंगों से जुड़ा हुआ समाज, एक व्यवस्था है।
2. विभिन्न अंगों में तनाव और हितों का टकराव होता रहता है। अतः समाज व्यवस्था असन्तुलन की अवस्था में रहती है।
3. तनाव, टकराव और असन्तुलन के कारण व्यवस्था तितर-बितर होती है, मगर संगठित भी होती है। संघर्ष द्वारा व्यवस्था मजबूत होती है और कुशलतापूर्वक परिवेश से समायोजित होती रहती है।

कोज़र ने ठीक ही कहा है कि समाज व्यवस्था में लचीलापन जितना अधिक होगा, संघर्ष द्वारा व्यवस्था उतनी ही अधिक समायोजित होती रहेगी। संघर्ष के माध्यम से, कोज़र समाज व्यवस्था के विश्लेषण का सिद्धान्त प्रेषित करता है। समाजविज्ञान में संघर्ष और संगठन के सम्बन्ध पर ध्यान नहीं दिया गया था।

डेहरन्डार्फ के अनुसार संघर्ष हितों के टकराव से उत्पन्न होता है, इसके विपरीत कोज़र का मत है कि शिकायतों की सुनवाई के विकल्पों के बन्द होने से संघर्ष होता है। दुर्लभ साधनों के वितरण को जब चुनौती दी जाती है तो प्रश्न न्याय-संगत या औरस होने का (legitimacy) उठाया जाता है। अमीर महलों में रहें और गरीब सड़कों पर एड़ियाँ रगड़ते रहें, इसका औचित्य क्या हैं ? पीढ़ियों से जो उच्च जातियाँ दुर्लभ साधनों का उपयोग कर रही हैं, उसका औरस क्या है ? और बहुत सारी चुनौतियाँ नाटकीय ढंग से उठायी जाती हैं जो कि वास्तव में व्यथा या परिवेदना (grievance) होती हैं। 'तुम हमें व्यथित रखो' इसका औरस क्या है ? 'तुम हमें वंचित करो' यह कहाँ तक न्याय-संगत है ? इस प्रकार के मनोभाव से ओतप्रोत प्रश्न और सत्ता को चुनौती देते हैं और संघर्ष खड़ा करते हैं। समाज-व्यवस्था को औरस ठहराने के बड़े सारे सामाजिक यन्त्र होते हैं। समझौता, न्यायिक अदालतें, शिक्षा, धर्म, राष्ट्र और योग्यताक्रम के माध्यम से औरसता की स्थापना करने का प्रयास जारी रहता है। कोज़र की स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. दुर्लभ साधनों के वर्तमान वितरण से जितनी अधिक मात्रा में लोग असन्तुष्ट होंगे, संघर्ष के छिड़ने की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी।

2. परिवेदना निवारण के मार्ग जितने कम और कठिन होंगे, दुर्लभ साधनों के वर्तमान वितरण की औरसता को, उतनी ही अधिक, चुनौती दी जायेगी।

3. साधन-सम्पन्न व विशेष सुविधा-प्राप्त समूहों में भरती होने के अवसर जितने ही कम होंगे, उतना ही अधिक औरसता को वापस लेने की प्रवृत्ति होगी, अर्थात् सामाजिक गतिशीलता जितनी कम होगी, औरसता को चुनौती उतनी ही अधिक होगी।

कोज़र यह स्वीकारता है कि 'हितों के टकराव' से संघर्ष होता है मगर जब तक सम्बन्धों की औरसता बनी रहती है, टकराव के बाद भी संघर्ष नहीं छिड़ता। संघर्ष तभी छिड़ता है जब घटना के सम्बन्ध में प्रश्न, न्याय-संगतता को उठाया जाता है। न्याय-संगत न प्रतीत होने पर जो पक्ष व्यथित होता है, वह संघर्ष पर आमादा होता है। मगर औरसता की वापसी (withdrawal of legitimacy) के बाद भी संघर्ष नहीं होता जबतक कि 'भावनाएँ जागृत' नहीं होतीं।

कोज़र ने संघर्ष की गहनता की विवेचना की है। संघर्ष के मुद्दे के प्रति भावनात्मक लगाव जितना अधिक होगा, संघर्ष भी उतना ही तीव्र होगा। जहाँ सम्बन्ध जितने अधिक घनिष्ट होंगे (primary relation), मतभेद होने पर,

संघर्ष भी इतना ही तीव्र होगा। गहरे मित्रों और भाइयों में जब संघर्ष होता हैं तो बहुत ही तीव्र होता है। सम्बन्ध जितने ही दूर (secondary relation) के होते हैं, संघर्ष उतना ही हल्का होता है। जिन संघर्षरत समूहों में सैद्धान्तिक एकता जितनी अधिक होगी, वे उतनी अधिक तीव्रता से संघर्षरत होंगे। संगठित समूहों के नेता भी अपने समूह पर अधिक अधिकार रखते हैं। इसके विपरीत, अगर माँगें यथार्थपरक हैं तो संघर्ष हलका होगा।

संघर्ष के प्रकार्य (functions of conflict)

कोज़र के अनुसार वह संघर्ष 'अच्छा' है जिससे समाज व्यवस्था का संगठन और समायोजन बढ़ता है। वह संघर्ष 'खराब' है जिससे समाज व्यवस्था में विघटन और असमायोजन उत्पन्न होता है। जिस संघर्ष से सामाजिक व्यवस्था में संगठन बढ़ता है उस संघर्ष को कोज़र प्रकार्यत्मक (functional) कहता है। संघर्ष जितना ही कम कठोर होता है, उतनी ही अधिक नयी-नयी बातें संघर्ष के कारण उत्पन्न होती हैं।

1. एक लचीली समाज-व्यवस्था में संघर्ष तीव्र नहीं होता है और समायोजन बढ़ता है।

2. समाज व्यवस्था के अंग एक दूसरे पर जितना अधिक निर्भर करते हैं संघर्ष उतना ही कम तीव्र होता है। क्योंकि सभी अंग एक दूसरे पर आश्रित होते हैं और दबाव डाल कर, संघर्ष को सीमित रखते हैं।

3. संघर्षरत लोगों में अगर प्राथमिक सम्बन्ध (घनिष्ठ) होते हैं और संघर्ष मद्धिम होता है तो दिल का गुबार निकल जाने के बाद, रिश्ते और भी अधिक मधुर हो जाते हैं।

कोजर ने उन दशाओं का उल्लेख किया है जिनमें संघर्ष कम हिंसात्मक होता है। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें संघर्ष विसारित (diffused) होता है। अगर संघर्ष के उद्देश्य यथार्थपरक हैं तो संघर्ष अधिक हिंसात्मक नहीं होगा। क्योंकि, लोग समझते हैं यथार्थ रूप में क्या सम्भव है, और क्या असम्भव है। इसके विपरीत अयथार्थपूर्ण उद्देश्यों को लेकर उठने वाला संघर्ष अधिक हिंसात्मक होता है। जो समाज-व्यवस्था जितनी कठोर होती है उसमें संघर्ष उतना ही तीव्र और हिंसात्मक होता है। कठोर समाज-व्यवस्था में संघर्ष भी अयथार्थपूर्ण होते हैं। अगर संघर्ष चलाने वाले नेता यह देखते हैं कि संघर्ष की भारी कीमत चुकानी पड़ेगी तो, या तो पीछे हटते हैं, या संघर्ष को विसारित करना चाहते हैं। जब संघर्षरत दोनों पक्ष बराबर-बराबर शक्ति रहते हैं तो हिंसा कम होता है।

कोज़र के संघर्ष के सिद्धान्त को 'औरसता को चुनौती', 'भावनाओं का भड़कना', 'हिंसा की गहनता' और 'संघर्ष की अवधि' ऐसी अवधारणाओं द्वारा समझा जा सकता है। कुल मिला कर कोज़र का सिद्धान्त बहुत अस्पष्ट नहीं है।

REFERENCE

1. Marx, The Communist Manifesto.
2. Simmel, Conflict, The Free Press, Glencoe, 1955.
3. Dahrendorf, Class and Class Conflict in Industrial Society, Stanford, 1959.
4. Coser, The Functions of Social Conflict, London. 1956.

अध्याय–8

सामाजिक विनिमय सिद्धान्त

(SOCIAL EXCHANGE THEORY)

विनिमय सिद्धान्त और उपभोगवाद

(exchange theory and utilitarianism)

सन् 1750 से 1850 के बीच, एड्म स्मिथ, डेविड रिकार्डो, जान स्टूअर्ट मिल, बेन्थम जैसे क्लासकी अर्थशास्त्रियों ने उपभोगवाद का आर्थिक सिद्धान्त प्रस्तावित किया। उपभोगवाद का प्रभाव सामाजिक चिन्तन और दर्शन के अतिरिक्त, व्यापक रूप से विधिक और प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर भी पड़ा। इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि व्यक्ति दुःख को कम करना चाहता है, और सुख को बढ़ाना चाहता है। व्यक्ति अपनी तार्किक बुद्धि से ऐसे काम करना चाहता है जिसके फलस्वरूप, उसे लाभ अधिक और हानि कम उठानी पड़े। समाज में रहते हुए, दूसरों से कार्यव्यापार करते हुए, व्यक्ति जिन चीजों का आदान-प्रदान (exchange) या विनिमय करता है, उससे अधिक-से-अधिक लाभ (utility) प्राप्त करना चाहता है। अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति सुखवादी प्रवृत्ति है, व्यक्तिवादी प्रवृत्ति नहीं है।

अतः उपभोगवादी सिद्धान्त मनुष्य के मनोविज्ञान की आधारशिला भी रखता है। मनुष्य सुख चाहता है, व्यक्तित्व का विकास चाहता है, और अन्तराक्रिया द्वारा दूसरों से लाभान्वित होना चाहता है। मानवशास्त्रियों (anthropologists) ने जब आदिम जातीय समाज का अध्ययन करना प्रारम्भ किया तो उन्हें पता चला कि विनिमय द्वारा उपभोग और सुख के साधन प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदिम जातीय समाज में पायी जाती है। साधन-विहीन आदिम जातीय समुदाय के लोग बहनों और स्त्रियों को विनिमय में देकर, दूसरे समुदाय की स्त्रियों को या सम्पत्ति को, प्राप्त करते थे। अतः आदिम जातीय समुदाय का स्वरूप विनिमय पर आधारित था। ये समुदाय अति सरल थे, आर्थिक क्रियाएँ साधारण व सरल थीं, मुद्रा का अभाव था। वस्तुओं के आदान-प्रदान के लिए स्त्रियों और जानवरों का उपयोग किया जाता था।

आधुनिक सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के बौद्धिक स्रोत उपयोगितावादी

दर्शन, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र में पाया जाता है। उपयोगितावादी सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या टैलकट पारसन्स ने अपने सिद्धान्त में की है और सामाजिक विनिमय सिद्धान्तकारों ने भी इस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या की है। फिर भी सामाजिक विनिमय सिद्धान्त पारसन्स के सिद्धान्तों का विरोध पक्ष प्रस्तुत करता है। उपयोगितावाद की पुनर्व्याख्या के निम्नलिखित पक्ष हैं :

(अ) लोग सर्वदा लाभ को अधिक-से-अधिक बढ़ाना नहीं चाहते।
(ब) मनुष्य के व्यवहार सर्वदा तर्कयुक्त (rational) नहीं होते।
(स) विनिमय-सम्बन्ध बाहरी दबाव से और नियमों से मुक्त नहीं होते।
(द) लोगों को सभी विकल्पों की पूर्ण जानकारी नहीं होती।

पूर्वोक्त सभी बिन्दु क्लासिकी उपभोगवादी सिद्धान्त की त्रुटियों को व्यक्त करते हैं। उपभोगवाद यह मानता है कि लोग अपने लाभ को अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहते हैं, और उनके व्यवहार सर्वदा तर्कयुक्त होते हैं। सभी विकल्पों की पूर्ण जानकारी व्यक्ति को होती है और व्यक्ति उन्हीं विकल्पों को चुनता है जिनसे उसे अधिक-से-अधिक सन्तोष प्राप्त हो। उपयोगवादी सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या इन नियमों में संशोधन करती है। व्यक्ति के व्यवहार सर्वदा न तो लाभ के लिए होते हैं, न तो तर्कयुक्त ही होते हैं। विकल्प के चयन में भी उसकी जानकारी अपर्याप्त होती है।

उपयोगितावादी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर, होमन्स और ब्लाव ने विनिमय सिद्धान्त की रचना की है।

जार्ज सी० होमन्स का विनिमय सिद्धान्त (George Homans)

होमन्स का दृष्टिप्रारूप (perspective)

समाज वैज्ञानिकों के समक्ष कुछ सनातन प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है : समाज का विश्लेषण कैसे किया जाये ? विश्लेषण की इकाई क्या हो ? विश्लेषण की विधि क्या हो ?

मानव समूह में आत्मीयता की तलाश, होमन्स के सिद्धान्त-निर्माण का उद्देश्य है। सामाजिक व्यवहारों का विश्लेषण करने की ठोस इकाई 'व्यक्ति' है। व्यक्ति के अतिरिक्त, जिस किसी तथ्य का भी विश्लेषण किया जाता है, वह ठोस इकाई नहीं है। होमन्स का विश्वास है कि मानव-समाज छोटे समूहों का ही विस्तृत रूप है। व्यक्ति के अतिरिक्त, कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे सामाजिक विश्लेषण का आधार माना जाये। व्यक्ति छोटे-छोटे समूहों में रहता है। अतः छोटे समूहों में व्यक्ति के व्यवहारों का विश्लेषण करना, समाज-

वैज्ञानिक सिद्धान्त निर्माण की सही दिशा होगी। होमन्स छोटे समूहों में व्यक्ति के व्यवहार का जब विश्लेषण करने का प्रयास करता है तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों तक सीमित रह जाता है।

दूसरा सनातन प्रश्न यह है कि समाज में मानव जीवन को सुखमय, शान्तिमय और निरन्तर उन्नतिशील कैसे बनाया जाये ? यह एक नैतिक प्रश्न है। जाने-अनजाने अधिकांश समाजवैज्ञानिकों ने इसका उत्तर दे डाला है। होमन्स के अनुसार, व्यक्ति केवल भौतिक वस्तुओं के उपभोग से ही संतुष्ट नहीं रहता, बल्कि उसे मनोवैज्ञानिक सन्तोष भी मिलना चाहिए। एक व्यक्ति, जब दूसरे व्यक्ति से, मिलकर यह कहता है कि "हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो" तो वे युग्म आत्मीयता के सूत्र में बँधकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार का संतोष व्यक्ति को छोटे समूहों में ही प्राप्त हो सकता है। विशाल भीड़ में खो जाने वाले व्यक्ति का 'कोई नहीं होता, न वह किसी का होता है'। ऐसी सभ्यता में व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता।

तीसरा सनातन प्रश्न यह है कि मानव-सभ्यता जीवित कैसे रहेगी ? दो महायुद्धों और विशाल औद्योगिक-समाज के यान्त्रिक जीवन से निकलने वाले परिणामों के कारण, यह प्रश्न बहुत तीखा बन गया है। होमन्स का उत्तर बड़ा सरल है। यदि मानव सभ्यता को बचाना है तो छोटे समूह की जीवन शैली या सामुदायिक बोध को प्रोत्साहित करना होगा।

इन तीनों प्रश्नों के उत्तर से, और होमन्स की कृतियों का अध्ययन करने से, समाज की एक छवि (image of society) उभर कर सामने आती है, जिसे हम होमन्स का दृष्टिप्रारूप (perspective) कहेंगे। होमन्स इस दृष्टिप्रारूप के लिए ही सराहा जाता है। इसके सिद्धान्त से, सामाजिक व्यवहारों के विश्लेषण को दिशा मिलती है और आधुनिक समाज को छोटे समूहों के उपागम से अध्ययन करने का मार्ग मिलता है। सम्प्रति समाजवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रसंग में, होमन्स के सिद्धान्त को सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (social exchange theory) के अन्तर्गत रखा जाता है।

चिरपरिचित सामाजिक घटनाएँ

प्रतिदिन की घटनाएँ बड़ी परिचित सी लगती हैं। पारिवारिक झगड़े, पड़ोसियों में सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रश्न पर कहा-सुनी, किसी 'बड़े आदमी' का कृपापात्र होने की होड़ आदि कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें हम रोज ही देखा करते हैं। हम यह भी देखते हैं कि जो लोग आपस में अधिक मिलते-जुलते हैं, वे एक दूसरे को पसन्द भी अधिक करते हैं। सामाजिक पद एवं प्रतिष्ठा में व्यक्तिजैसे-

ही ऊपर उठता है, उससे सम्बन्ध बढ़ाने वालों की संख्या बढ़ जाती है। होमन्स का कहना है कि प्रतिदिन की जानी-पहचानी घटनाएँ देखने-सुनने में सरल लगती हैं, परन्तु अस्त-व्यस्त (familiar chaos) भी लगती हैं। जो कुछ भी हो रहा है, लगता है कि नियमविहीन है, रूपशून्य है, बिना तारतम्य के है। इन चिर-परिचित अस्त-व्यस्त लगने वाली घटनाओं में एकरूपता खोज निकालना, उन्हें सामान्य नियमों के आकार में बाँधकर दिखाना, होमन्स का उद्देश्य है। अतः बौद्धिक स्तर पर जो दुर्व्यवस्था (intellectual chaos) प्रतीत होता है, उसे सामान्यीकृत (generalized) करना होमन्स का उद्देश्य है।

इस प्रसंग में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली, भौतिक विज्ञानों में सामान्यानुमान लगाना (generalization) जितना सरल है उतना समाजविज्ञान में सम्भव नहीं है। दूसरी, सामाजिक घटनाएँ इतनी पहचानी हुई होती हैं कि उनके विषय में सामान्यीकरण (generalization) करना ही व्यर्थ है। इन दोनों बातों पर होने वाली बहस पुरानी पड़ चुकी है। समाजविज्ञान में सामान्यीकरण और नियमों की स्थापना (formulation of laws) का कार्य हो रहा है। होमन्स इन दोनों आपत्तियों को नकार देता है और सामाजिक घटनाओं के विषय में सामान्य ानुमान लगाने की समस्या को एक दूसरे स्तर पर परखने का प्रयास करता है।

अपने जीवन के अनुभव के आधार पर हर व्यक्ति सामान्य अनुमान लगाता है और धारणाएँ बनाता है। हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं—"आजकल चारों ओर भ्रष्टाचार है। इस दुनिया में 'बनी' के सब हैं, 'बिगड़ी' का कोई यार नहीं, चापलूसी और चमचागिरी का जमाना है"। मगर ऐसे बहुत सारे लोगों के सामान्य अनुमान न तो सरल होते हैं, न प्रमाणित होते हैं। उनके निजी जीवन की प्रस्थितियों के बदलते ही, अनुभव बदल जाता है, और साथ ही, इस प्रकार के सामान्यानुमान भी बदल जाते हैं। होमन्स का कहना है कि हर आदमी अपने सामाजिक अनुभव के आधार पर कामचलाऊ या तदर्थ (ad-hoc) निष्कर्ष निकालता रहता है, बदलता रहता है, और उन्हें भूलता रहता है। सदियों से मनुष्य इस प्रक्रिया में लीन है। इस तरह के साधारण सामान्यानुमान की विशेषता यह होती है कि इसमें नैतिक प्रश्न उठाये जाते हैं और नैतिक कसौटी पर परखकर कहा जाता है कि "होना क्या चाहिए और वास्तव में (what is and what it ought to be) हो क्या रहा है"। अतः ऐसे सामान्य निष्कर्ष नैतिक फैसले के रूप में रखते जाते हैं। इनकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण

चिरपरिचित घटनाओं के विषय में जो सरल सामान्यानुमान लगाये जाते हैं,

वे वैज्ञानिक नहीं होते। शायद होमन्स यह कहना चाहता है कि इस प्रकार के सामान्यानुमान, घटनाओं का 'विवरण' तो प्रस्तुत करते हैं, मगर 'विश्लेषण' नहीं। होमन्स सामाजिक व्यवहार के मौलिक (elementary) या तात्त्विक आकारों (forms) का विश्लेषण करना चाहता है। यहाँ तक यह समझ लेना आवश्यक होगा कि, होमन्स के अनुसार :

(अ) सामाजिक व्यवहार क्या है ?

(ब) सामाजिक व्यवहार के मौलिक आकारों (elementary forms) का विश्लेषण क्यों आवश्यक है ?

इन दोनों प्रश्नों का होमन्स ने जो उत्तर दिया है वह उसके सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (social exchange theory) के लिए आधार-तत्त्व के समान हैं। सामाजिक व्यवहारों में पारस्परिकता (reciprocity) होती है। पारस्परिकता ही सामाजिक-सम्बन्धों का रूप ले लेती है। एक मित्र दूसरे मित्र को उपहार देता है–यह एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध का सूचक है। केवल उपहार दे-देकर भी मित्रता उत्पन्न कर ली जाती है। इसीलिए कहा गया है "मित्र उपहार देते हैं, उपहार से मित्र भी मिलते हैं"। आदान-प्रदान दोस्ती का भी होता है और दुश्मनी का भी। अतः सामाजिक-सम्बन्धों में 'सहयोग' और 'असहयोग' दोनों होते हैं।

जेम्स फ्रेजर (James Frazer) ने आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में चचेरे, ममेरे, मौसेरे, फुफेरे भाई-बहनों में विवाह की प्रथा का उल्लेख किया है। गरीब आदिवासियों के पास धन नहीं होता, इसलिए, वे अपने घर की स्त्री-सदस्यों (प्रायः बहन या बेटी) के बदले में, दूसरे परिवार से वधू प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की विवाह प्रथा के पीछे आर्थिक उद्देश्य निहित होते हैं। फ्रेजर ने यह भी लिखा है—

(अ) विनिमय द्वारा लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

(ब) विनिमय से जब लाभ होने लगता है तो विनिमय की प्रक्रियाएँ (elementary forms) संस्थागत हो जाती हैं, और

(स) उनसे सामाजिक कुलकेन्द्र (social network) उत्पन्न होते हैं और उन्हीं कुलकेन्द्रों से समाज की व्यवस्था (social system) की रचना होती है।

फ्रेजर की विनिमय की अवधारणा और मानवशास्त्रियों की खोज से पता चलता है कि लोगों में सामाजिक बन्धन बनाने की आवश्यकता कितनी प्रबल होती है। भौतिक और अभौतिक (nonmaterial exchange relation)

विनिमय सम्बन्धों से उत्पन्न, सामाजिक सम्बन्धों को होमन्स सामाजिक व्यवहार कहता है। सामाजिक व्यवहार की अवधारणा में होमन्स व्यवहारवादी मनोविज्ञान और आर्थिक नियमों से प्रभावित हुआ है।

व्यवहारवादी मनोविज्ञान (behavioural psychology) का सूत्रपात पावलाव (Pavlov) और स्किनर (Skinner) आदि मनोवैज्ञानिकों से हुआ है। व्यवहारवाद के कुछ मनोवैज्ञानिक नियमों को होमन्स ने सामाजिक विनिमय सिद्धांत का आधार-अंग मान लिया है। होमन्स भी मानता है कि मनुष्य एक पुरस्कार-खोजी देही (reward-seeking organism) है। सभी जीवधारियों (animals) के समान मनुष्य भी अधिक-से-अधिक पुरस्कार और कम-से-कम दण्ड (punishment) भोगना चाहता है। आर्थिक शब्दावली में 'पुरस्कार' किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली 'उपयोगिता' (utility) के समान है, और दण्ड या सजा किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए चुकायी जाने वाली कीमत (cost) के समान है। पुरस्कार के विकल्पों में व्यक्ति चुनाव करता है। अधिक सुख (पुरस्कार) प्राप्त करने के लिए भारी कीमत भी चुकाता है। होमन्स के सिद्धांत में 'विकल्पों के चयन' का विशेष स्थान है। पुरस्कार-दण्ड के बीच, चयन करने की प्रक्रिया, सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण में काम आती है। अतः विनिमय में पुरस्कार के महत्त्व की स्थापना करने के बाद हम फिर होमन्स के मौलिक बिन्दु पर पहुँचते हैं कि सामाजिक व्यवहार क्या है या उसकी विशेषताएँ क्या हैं ?

सामाजिक व्यवहार (Social behaviour)

सामाजिक व्यवहार की होमन्स की अवधारणा को हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। एक ग्राहक किसी स्टोर में कुछ खरीदने दाखिल होता है। सेल्स-गर्ल मुस्कराकर उसका स्वागत करती है। ग्राहक उसके वास्तविक व्यवहार (जो प्रत्यक्ष है) से प्रभावित होता है और खरीददारी के लिए उत्साहित होता है। ग्राहक और सेल्स-गर्ल की इस पारस्परिक क्रिया (interaction) में दोनों ही पक्ष पुरस्कृत हैं। यदि ग्राहक का उचित स्वागत न हुआ होता तो शायद वह वापस लौट जाता। सुख-दुख, हानि-लाभ, दुख-दर्द की घटनाएँ प्रतिदिन, आमने-सामने के व्यवहारों में, हुआ करती हैं। इस प्रकार के विनिमय के कारण व्यवहार सामाजिक होता है। जिस वास्तविक व्यवहार या पारस्परिक क्रिया में भौतिक या अभौतिक प्रभाव का विनिमय न हो, वह व्यवहार सामाजिक नहीं है। अतः होमन्स के अनुसार सामाजिक व्यवहार की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक व्यवहार में पुरस्कार एवं दण्ड निहित होता है।

2. सामाजिक व्यवहार आमने-सामने (अथवा सीधे सम्पर्क) का होता है और वही वास्तविक व्यवहार है।

3. सामाजिक व्यवहार वह है जो वास्तविक रूप में सामने घटित होता है। व्यवहार 'कैसा होना चाहिए' का प्रश्न इससे अलग है।

सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए व्यवहारवादी मनोविज्ञान के कुछ नियमों का उल्लेख कर देना यहाँ पर आवश्यक है। होमन्स के सम्पूर्ण सिद्धान्त में निम्नलिखित व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक नियम व्याप्त हैं :

1. किसी भी दी हुई स्थिति में देही (organism) या प्राणी ऐसे व्यवहार करेगा जिनके कारण उसे पुरस्कार अधिक और दण्ड कम मिले।

2. अतीत में जिन व्यवहारों के लिए पुरस्कार मिला है, उनको देही (organism) बार-बार दुहरायेगा।

3. अतीत की जिन परिस्थितियों में प्राणी पुरस्कृत हो चुका है, वर्तमान में भी वैसी परिस्थितियाँ होतो हैं तो वह वैसा ही व्यवहार करेगा।

4. व्यवहार तभी तक दुहराये जायेंगे जब तक पुरस्कृत होते रहेंगे।

5. अतीत में जिन व्यवहारों पर पुरस्कार मिल चुका है, वर्तमान में अगर वैसे ही व्यवहार पर पुरस्कार न मिला तो प्राणी संवेग (क्रोध, आक्रोश, नैराश्य आदि) प्रदर्शित करेगा।

6. जैसे-जैसे किसी विशेष व्यवहार से देही (organism) को पुरस्कार मिलता जायेगा, जैसे पुरस्कार से उसका मन भरता जायेगा, और सम्भवतः नये पुरस्कार की खोज में वह वैकल्पिक व्यवहार (करने) उत्सर्जित करने (emit) लगेगा।

पूर्वोक्त सभी नियम प्राणियों पर प्रयोग करके प्राप्त किये गये हैं। आधुनिक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक नियमों का उपयोग, होमन्स ने अपने सिद्धान्त में किया है। हर व्यक्ति दूसरे को पुरस्कृत करने की क्षमता रखता है। सामाजिक व्यवहार के पीछे (transaction) उपयोगितावादी प्रेरणा निहित है। लेकिन चिड़िया, बिल्ली, बन्दर की तरह मनुष्य व्यवहार नहीं करता है। उसमें सोचने-समझने की क्षमता होती है, जिसे संज्ञान (cognition) कहते हैं। संज्ञान हमेशा सांस्कृतिक विशेषताओं से प्रभावित होता है। मनुष्य पर सामाजिक संरचना (social structure) का भी प्रभाव पड़ता है। अतः होमन्स ने व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक नियमों के साथ संज्ञान (cognition), संस्कृति (culture) और सामाजिक संरचना (social structure) के प्रभाव क्षेत्र को अपने विनिमय व्यवहारवाद (exchange behaviourism) में स्थान किया है।

(ब) सामाजिक व्यवहार के मौलिक आकार (elementary forms of social behaviour)

होमन्स का दूसरा सैद्धान्तिक प्रश्न है कि सामाजिक व्यवहारों के मौलिक आकारों (elementary forms) का ही विश्लेषण क्यों किया जाये ? इसके उत्तर देने में वह ऐसे तत्त्वों या आकारों (elements or forms) की खोज कर रहा है जो मानवजाति में सार्वलौकिक (universal) हों। मनुष्य के व्यवहार से अगर संस्थागत नियमों (formal institutional rules), सत्ता के दबाव (pressure of authority) को हटा दिया जाय तो जो कुछ शेष रहेगा वह शुद्ध मनुष्य (man) होगा, और उस मनुष्य के व्यवहारों के आकार सार्वलौकिक होंगे। चोट लगने पर दर्द की अनुभूति हर एक को होती है, लेकिन संस्थागत मर्यादा के कारण व्यक्ति उस दर्द को छिपा भी सकता है। दर्द को छिपा ले जाने वाला व्यक्ति, संस्थागत और लोकनीति के दबाव में है। वह मानवशास्त्र का आदमी (anthropological man) है उसका व्यवहार मौलिक नहीं है। जिन अनुभूतियों को सब अनुभव करते हैं वही मौलिक आकार (elementry form) है। होमन्स का मनुष्य एक देही (organism) है जिसमें एक स्व (self) भी है। देह और स्व से बना हुआ देही, होमन्स का व्यक्ति (individual) है। वह व्यक्ति जब हँसता है तो सारी दुनिया हँसती है, जब रोता है तो सारी दुनिया रोती है। इस व्यक्ति के व्यवहारों के आकार (elementry forms) समस्त मानवजाति में पाये जाते हैं। होमन्स इन मौलिक आकारों के आधार पर विनिमय के ऐसे नियमों की स्थापना करना चाहता है जो सार्वलौकिक हैं।

सांस्कृतिक और संरचनात्मक प्रभाव को होमन्स नकारता नहीं है। सांस्कृतिक संस्थागत प्रभाव के नीचे भी व्यक्ति के जीवन का एक स्तर है। यह स्तर मौलिक व्यवहारों (elementary behaviour) का स्तर है। होमन्स इस स्तर को उप-संस्थागत (sub-institutional) कहता है। अतः मौलिक व्यवहारों का स्तर वह अवशेष (residue) है जो कि संस्थागत दबाव की अवधारणा के अन्तर्गत नहीं आता है। प्रश्न उठता है कि होमन्स मौलिक आकारों की अवधारणा को क्यों इतना महत्त्व देता है। इसके पीछे वैज्ञानिक सिद्धान्त-निर्माण की खरी प्रवृत्ति है। भौतिकशास्त्री कणों (particles) द्वारा भौतिक जगत् का विश्लेषण करता है। होमन्स, उसी तरह व्यवहार के मौलिक आकारों (elementary forms) द्वारा सामाजिक व्यवहार का विश्लेषण करना चाहता है।

विश्लेषण की जो तार्किक विधि (logical method) होमन्स ने चुनी है, वह सरल है। इसे सामान्यानुमान की निगमन (deductive) और आगमन

(inductive) विधि कहते हैं। होमन्स के विश्लेषण की विधि एक उदाहरण से समझी जा सकती है।

निगमनमूलक निष्कर्ष 1. जहाँ सूरज का प्रकाश सीधा नहीं पहुँचता, वहाँ सर्दी होती है।

आगमनमूलक निष्कर्ष 2. प्रतिदिन जाड़ों में जैसे-जैसे हमारे क्षेत्र में सूरज ढलता जाता है, सर्दी बढ़ती जाती है।

अगर हम निष्कर्ष 2 को निष्कर्ष 1 के अन्तर्गत रख कर जाँचें तो पता चलेगा कि, मौसम विशेष में, प्रतिदिन का छोटा सत्य, एक बड़े सत्य (या नियम) का अंग है। व्यापक सत्य जब छोटे सत्य का अंश बन जाता है तो छोटा सत्य प्रामाणिक (valid) माना जाता है। इसी तरह सीमित या छोटा सत्य, किसी व्यापक सत्य से जुड़ जाता है तो, उसे अधिक विश्वसनीय मानते हैं। एक उदाहरण सामाजिक जीवन से लीजिए।

सत्ता जितनी प्रभावकारी होगी, अनुशासन उतना ही सफल होगा।

(निगमन)

मैंने कुछ परिवारों का अध्ययन किया और देखा कि जिन परिवारों में माता-पिता (सत्ता), किसी कारण से नहीं थे, उन परिवारों में बच्चे अनुशासित नहीं थे।

(आगमन)

इस उदाहरण में आगमनमूलक निष्कर्ष की पुष्टि निगमनमूलक निष्कर्ष से होती है। सामाजिक व्यवहारों के विषय में इस तरह के नियमों की स्थापना की जाती है तो उनका विश्लेषण (explanation) होता है। इन नियमों की जाँच जब निगमन-आगमन विधि द्वारा की जाती है तो विश्लेषण और भी अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक माना जाता है। होमन्स ने यह भी कहा है—मेरा सिद्धान्त पुराना है और साधारण समझ (common sense) पर आधारित है।

होमन्स ने इन दोनों विधियों से सामाजिक व्यवहार के अध्ययन की योजनायें (strategies) बनायी हैं। 1950 में प्रकाशित 'दी ह्यूमन ग्रूप' (The Human Group : 1950) में आगमनमूलक योजना (inductive strategy) और 1961 में प्रकाशित 'सोशल बिहैवियर' (Social Behaviour : 1961) में निगमनमूलक योजना (deductive strategy) प्रस्तावित की गयी है। होमन्स के सिद्धान्त के विकास में इन दोनों योजनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः हम उनकी समीक्षा अलग-अलग प्रेषित कर रहे हैं।

आगमनमूलक योजना : (the inductive strategy : The Human Group : 1950)

होमन्स ने लिखा है कि सामाजिक घटनाओं के सरल विवरण से व्यवहारों में

एकरूपता (uniformities) निकालना मानव-समूह के अध्ययन का उद्‌देश्य है। दूसरा कार्य इस अध्ययन के अन्तर्गत आने वाली अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करना है।

होमन्स के लिए 'संसार' एक रंगमंच है। जो कुछ वह छोटे समूहों के विषय में कहता है, वह सब कुछ सारे रंगमंच पर लागू होता है। मानव-समूहों में जो कुछ सदियों से होता आ रहा है, उसका एक चित्रण होमन्स ने दिया है। यहाँ उसका सारांश प्रस्तुत है :

"एक चौकोर कमरा है। बायीं तरफ का दरवाजा बन्द है। पत्थर की अँगीठी जल रही है। कुर्सियाँ और बेंच अँगीठी के आस-पास तितर-बितर पड़े हैं। दीवार पर धुँधली तस्वीर टँगी है। बाहर एक कार्ट है जो खिड़की से धुँधली रोशनी में दिखाई पड़ रही है।

एक स्त्री कमरे में प्रवेश करती है। चाय का पानी गर्म करती है और मेज पर खाने का सामान लगाती है। दो जवान लड़कों के साथ एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति आता है। मर्द खाने लगते हैं। स्त्री पास खड़ी है परोसने के लिए। खाने के बाद अधेड़ उम्र का व्यक्ति लड़कों से बोलता है अब हमें चलना चाहिए। वे चले जाते हैं।

एक लड़की आती है। दोनों स्त्रियाँ खाने के लिए बैठ जाती हैं तभी बच्चे के रोने की आवाज आती है। बड़ी स्त्री बच्चे को गोद में उठा लाती है। उसे खिलाती और प्यार करती है। लड़की खाने के बाद बर्तन साफ करने लगती है। बड़ी स्त्री उसे मक्खन निकालने का आदेश देती है।"

यह एक खेतिहर परिवार है। छोटा सा समूह जहाँ सम्बन्धों के आधार प्रकट हैं। व्यवहार के प्रतिमान (noarms) मालूम हैं। बाप बेटों को आदेश कैसे देगा। मर्दों के बाद स्त्रियाँ खाना खायेंगी। बच्चों की देख-रेख परिवार के बड़े सदस्य करेंगे।

संसार के रंगमंच पर छोटे समूह के रिश्तों व प्रतिमानों की यह कहानी बड़ी पुरानी है। मगर इस कहानी की घटनाएँ और उनके तत्त्व (elements) किसी समाज विशेष तक सीमित नहीं हैं। होमन्स का कहना है कि यह दृश्य 'केवल मेरे समाज का नहीं' बल्कि 'संसार के रंगमंच' का है। ऐसी ही चिर-परिचित घटनाएँ समाजविज्ञान के लिए 'कच्चे माल' (raw material) के समान हैं। इन्हीं से समाजवैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण होता है। इनके बारे में सामान्यानुमान (generalization) तथ्यगत होना चाहिए। छोटे समूहों में मानव व्यवहार के विश्लेषण में कुछ प्रमुख अवधारणाओं का प्रयोग होता है। होमन्स के अनुसार समूह स्वरमेल (symphony) के समान है। जैसे बहुत सारे, तरह

तरह के स्वरों को मिलाकर एकतानता उत्पन्न होती है, उसी तरह बहुत सारी घटनाओं को मिलाकर मानव-समूह निर्मित होता है। जिस तरह स्वरों में एक प्रकार की एकतानता, कसाव या संकुलन होता है, उसी प्रकार समूह की एक आन्तरिक व्यवस्था (internal system) होती है। समूह और पर्यावरण (environment) के सम्बन्ध को बाह्य या बाहरी व्यवस्था (external system) को अवधारणा से समझते हैं। समूह में सामाजिक व्यवहार का विश्लेषण करने में, होमन्स ने कार्यकारिता (activity), पारस्परिक क्रिया (interaction), और मनोभाव (sentiment) की अवधारणाओं का प्रयोग किया है। इन सभी अवधारणाओं के साथ होमन्स ने सामाजिक प्रतिमान (social norms) की अवधारणा का प्रवेश किया है।

1. कार्यकारित (activity)

कर्म (action) या कार्य (work) की अपेक्षा होमन्स को कार्यकारिता (activity) शब्द का प्रयोग उचित लगता है। इसका अर्थ प्रतिदिन के जीवन में की जाने वाली क्रियाएँ हैं जैसे खाना, सोना, चलना, खेलना, पीना, बोलना, देखना, लेना देना आदि। ये सब ऐसे कार्य हैं जिनके करने में व्यक्ति की मांस-पेशियाँ हिलती-डुलती हैं। मगर बोलना, कर्मकाण्ड करना (rituals) ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका आधार प्रतीकात्मक (symbolic) होता है। कार्यकारिता को तीन तरह से नापा भी जा सकता है। किसी कार्यकारिता द्वारा उत्पादन (production) कितना हुआ, उसकी कार्य-कुशलता (efficiency) कितनी है, तथा समय और पैसों में उसका मात्रात्मक मूल्य क्या है। नापी जाने वाली कार्यकारिता परिवर्त्य (variable) है और होमन्स परिवर्त्य के रूप में कार्य-कारिता को मानव-व्यवहार का तत्त्व (element) मानता है।

2. पारस्परिक क्रिया (interaction)

हम इस तरह के वाक्य बोलते हैं, 'मैं उसे देखने जा रहा हूँ' इसका तात्पर्य है कि मैं अपनी कार्यकारिता की एक इकाई (unit of activity) द्वारा दूसरे व्यक्ति (जिसे देखना है) को उत्तेजित (emit) करने जा रहा हूँ। इस उत्तेजना के प्रभाव में आकर वह व्यक्ति (विनिमय के रूप में) अपनी कार्यकारिता की एक इकाई मेरी तरफ उत्सर्जित (emit) करेगा—वह मुस्करा कर स्वागत करेगा या मुझ पर खफा होगा। दोनों पक्षों की इकाइयों के परस्पर विनिमय की प्रक्रिया, पारस्परिक क्रिया है। पारस्परिक क्रिया प्रतीकात्मक भी हो सकती है। होमन्स ने पारस्परिक क्रिया को सामाजिक व्यवहार का तत्त्व (element) माना है और इसका प्रयोग व्यवहारों के विश्लेषण करने में किया है।

3. मनोभाव (sentiment)

मनोविज्ञान में जिसे संवेग (emotion), भाव (feeling), अभिवृत्ति (attitude) आदि कहते हैं, उन्हें संवेगीय मनोदशाओं (affective states) को होमन्स ने मनोभाव (sentiment) की अवधारणा के अन्दर रखा है। मनोभाव भी सामाजिक व्यवहार का तत्त्व है। 'दी सोशल विहेवियर' (The Social Behaviour : 1961) पुस्तक में होमन्स ने मनोभाव (sentiment) को कार्यकारिता (activity) का ही स्वरूप माना है।

इन तीन अवधारणाओं के माध्यम से सामाजिक व्यवहारों के विषय में उपकल्पनाएँ (hypotheses) बनायी जा सकती हैं। जैसे, जिन दो व्यक्तियों में जितनी अधिक पारस्परिक क्रिया होगी, उनमें परस्पर प्रेम-भाव (sentiment) भी उतने ही अधिक होंगे। इस प्रकार की उपकल्पनायें बनाकर उसका परीक्षण किया जा सकता है। प्राप्त निष्कर्ष से सामाजिक व्यवहार का विश्लेषण भलीभाँति होगा।

बाह्य व्यवस्था (the external system)

मानव-समूह पर्यावरण (environment) के अन्तर्गत रहता है। समूह और पर्यावरण के बीच समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। उन समस्याओं का समाधान जिस प्रकार होता है, उसे बाह्य व्यवस्था (the external system) कहते हैं। होमन्स, समूह और परिवेश में सामंजस्य (adaptation) शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहता। समूह और पर्यावरण के बीच पारस्परिक क्रिया (interaction) होती रहती है। इस पारस्परिक सम्बन्ध या क्रिया को वह व्यवस्था के रूप में देखता है। पर्यावरण का प्रभाव व्यक्ति के ऊपर पड़ता है। मगर व्यक्ति निष्क्रिय नहीं रहता है, वह भी पर्यावरण को परिवर्तित और संशोधित करता रहता है। इस प्रकार की पारस्परिक क्रियात्मकता के कारण समूह का जीवन चलता रहता है।

कार्यकारिता, मनोभाव और पारस्परिक क्रिया में जो परस्पर निर्भरता (mutual interdependence) होती है, उसी से बाह्य व्यवस्था (external system) बनती है। इस व्यवस्था में दो प्रकार के परस्पर निर्भर सम्बन्ध होते हैं।

(अ) कार्य (work) और कार्य करने की प्रेरणा (motive) में पारस्परिक निर्भरता होती है। दूसरे शब्दों में कार्यकारिता (activity) और मनोदशा या प्रेरणा (sentiment or motive) में परस्पर निर्भरता

होती है। एक व्यक्ति को भूख लगी है। वह कुछ कार्य करके रोटी खा लेगा, लेकिन अगर उसे भविष्य में भूख और रोटी की चिन्ता लग जाये तो वह भयग्रस्त हो जायेगा। वह भय उसे कार्य करने की प्रेरणा देगा। वह खेत जोतेगा, बीज डालेगा, परिश्रम करेगा, ताकि भविष्य में भूखा न रहे। अतः जब तक भविष्य में भूख का भय बना रहेगा, रोटी कमाने का कार्य चलता रहेगा। यदि भूख में कमी होगी, तो भय कम होगा तो कार्य करने की प्रेरणा कमजोर होगी, कार्य कम होगा। व्यवहार के ये सभी तत्त्व (element) परस्पर निर्भर हैं और इनका सह-सम्बन्ध युगलरूप (pair relations) में पाया जाता है। एक (मनोभाव) के बढ़ने-घटने का प्रभाव दूसरे पर (कार्यकारिता) पड़ता है। यह सम्बन्ध सहगामी है।

(ब) कार्यकारिता (activity) और पारस्परिक क्रिया (interaction) में सह-सम्बन्ध होता है। होमन्स ने बैंक वायरिंग(bank wiring observation room) में काम करने वालों का उदाहरण दिया है। कार्य जब कई इकाइयों में विभाजित हो तो वह श्रम विभाजन (division of labour) होता है। श्रम विभाजन की प्रत्येक इकाई तभी अपना योगदान दे सकती है, जब कि इकाइयों में सूचनाओं का आदान-प्रदान (communication) होता रहे। एक बड़े कारखाने में विशिष्ट श्रम (specialized) के अनेक विभाग या समूह होते हैं। अगर उनकी परस्परक्रिया (communication). बात-चीत, लिखा-पढ़ी, मिलन-जुलन के रूप में न हो तो हर इकाई, एक दूसरे से बगैर सम्पर्क के हो जायेगी और पूरे कारखाने की कार्यकारिता में गड़बड़ी पैदा हो जायेगी। अतः श्रम विभाजन (activity) और पारस्परिक सूचनाओं तथा सम्बन्धों का आदान-प्रदान (interaction) परस्पर निर्भर है। अगर दोनों में से किसी एक में अन्तर होगा तो दूसरा भी प्रभावित होगा।

होमन्स का कहना है कि समूह में पारस्परिक क्रिया पिरामिड (pyramid) के आकार की होती है। पिरामिड के ऊपर कुछ नेता होते हैं जो कि नीचे वाले अनुगामियों (followers) को अपने विचार या आदेश भेजते रहते हैं। अनुगामी भी अपने विचार और अपनी सूचनाएँ नीचे-से-ऊपर की ओर भेजते हैं। इस प्रकार पारस्परिक क्रिया की लहर दोनों तरफ ऊपर-से-नीचे और-नीचे-से-ऊपर की ओर चलती रहती हैं। पारस्परिक क्रिया के इस आकार से संगठन (organization) की समस्याएँ पैदा होती हैं।

समूह कैसे पर्यावरण से पारस्परिक क्रिया (interact) करता है, इसका विश्लेषण होमन्स ने व्यवहार के तत्त्वों (elements) की परस्पर निर्भरता

के आधार पर किया है। कार्यकारिता और मनोभाव तथा कार्यकारिता और पारस्परिक क्रिया में परस्पर निर्भरता होने से समूह की बाह्य अवस्था (external system) बनती है।

आन्तरिक व्यवस्था (the internal system)

बाह्य व्यवस्था में पूरे समूह (group as a whole) का विवेचन किया गया है। पूरा समूह, इकाई के रूप में, कैसे पर्यावरण से पारस्परिक क्रिया (interact) करता है। आन्तरिक व्यवस्था की अवधारणा द्वारा, समूह के अन्दर, विभेदीकरण (internal differentation) की विवेचना की गयी है। कार्यकारिता, मनोभाव और पारस्परिक क्रिया की परस्पर निर्भरता से, किस प्रकार समूह में उपसमूह, गुट (clique) या दोस्ती के कुलकेन्द्र (network) उत्पन्न होते हैं ? जो व्यक्ति सामाजिक श्रेणी (social ranking) के ऊपर होता है वह दूसरे के व्यवहारों को कैसे प्रभावित करता है ? इस प्रकार की समस्याओं के विवेचन को होमन्स आन्तरिक व्यवस्था कहता है। समूह का जब विभेदीकरण हो जाता है तो प्रत्येक उप-समूह (sub-group), या गुट के अन्दर प्रभाव संचित (build up) होने लगते हैं। होमन्स इस प्रक्रिया को प्रति-संभरण (feedback) कहता है। प्रभाव के संचित (build up) से उस गुट का अपना इतिहास और नैतिक स्तर बनता है। जब हम किसी गुट को कार्यरत देखते हैं तो उसके पीछे साधनों का संचय (build up) होता है, इतिहास या परम्परा होती है। गुट के तात्कालिक व्यवहार पर उसके संचित प्रभाव का असर होता है। अतः अनेक शैलियों में एक बड़ा समूह विभाजित होकर आन्तरिक व्यवस्था बन जाता है।

होमन्स ने आन्तरिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ उपकल्पनाएँ (hypotheses) बनायी हैं—

1. मनोभाव, कार्यकारिता द्वारा, प्रकट होते हैं। वे लोग जो एक दूसरे को अधिक पसन्द करते हैं, अपने मनोभाव को कार्य द्वारा प्रकट करते हैं, जैसे—मित्रता, खेल, बात-चीत, विवाद आदि की स्थितियाँ।

2. आपस में अधिक पारस्परिक क्रिया (interest) करने वाले गुट (clique) बना लेते हैं और वे एक दूसरे को अधिक पसन्द करते हैं।

3. सामाजिक श्रेणी (social ranking) के विषय में होमन्स की उपकल्पना है कि जो व्यक्ति श्रेणीक्रम में ऊँचा होगा उसकी पारस्परिक क्रिया का दायरा भी बड़ा होगा।

(अ) निचली श्रेणी के व्यक्ति की तुलना में, ऊँची श्रेणी वाले व्यक्ति से अधिक लोगों का मेल-जोल होगा, और

(ब) वह अपने पारस्परिक सम्बन्धों के जाल की सीमा बढ़ा सकता है।

(स) श्रेणी में ऊँचा स्तर रखने वाला व्यक्ति पारस्परिक क्रिया का सूत्रपात अधिक कर सकता है, उसकी तुलना में जो, श्रेणीक्रम में नीचे हैं।

आन्तरिक व्यवस्था वास्तव में समूह के अन्दर असमानता की रचना है। श्रेणीक्रम (ranking) से नेता और अनुगामियों में सम्बन्ध अनुशासित होता है। श्रम विभाजन भी होता है और समूह समानजन समूह (mass) न होकर व्यवस्थित संगठन का रूप धारण कर लेता है। आन्तरिक व्यवस्था को प्रक्रिया द्वारा समूह बाहरी पर्यावरण से समायोजन (adaptation) स्थापित करता है। बाह्य और आन्तरिक व्यवस्थाएँ वास्तव में अलग-अलग नहीं हैं। एक दूसरे से मिली-जुली हैं। होमन्स ने केवल विवेचना के लिए उन्हें अलग कर लिया है।

छोटे समूहों का अध्ययन एक सौन्दर्य बोध (the sheer beauty of the object) है। सामाजिक व्यवहार का अध्ययन सबसे सरल इकाई से प्रारम्भ करना चाहिए। छोटे समूह का विवरण सरल तो लगता है मगर रहस्य यह खोलता है कि समूह एक सामाजिक व्यवस्था (social system) है। उसके सभी अंग परस्पर निर्भर रहकर एक समुच्चय (totality) बनाते हैं। इसका विश्लेषण करके होमन्स ने यह बताया—

(अ) समूह के सामाजिक व्यवहार के तत्त्व (elements) परस्पर निर्भर होते हैं।

(ब) समूह एक सामाजिक व्यवस्था (social system) के रूप में पर्यावरण से तालमेल स्थापित करके जीवित रहता है।

(स) समय के साथ समूह का विकास होता है।

निगमनमूलक योजना—व्यवहारों के मौलिक आधार
(The deductive stategy : Social Behaviour—its elementary forms : 1961)

होमन्स की 'सोशल बिहेवियर' (Social Behaviour) पुस्तक, 1961 में प्रकाशित हुई, मगर उसके बाद के संस्करणों में होमन्स ने अपनी अवधारणाओं में संशोधन किया है। 'दी ह्यूमन ग्रूप' (The Human Group) से सातत्य (continuity) बनाये रखने का मोह होमन्स ने छोड़ दिया। उसने मनोभाव (sentiment) को भी कार्यकारिता (activity) ही मान लिया। व्यवहारवादी मनोविज्ञान की शैली में होमन्स ने उत्तेजना (stimulus) और कर्म (action) ऐसी अवधारणाओं को सफल माना है। पर्यावरण से मिलने वाली सूचनाओं (stimulus of cues) से प्रभावित होकर देही (organism) की प्रक्रिया को कर्म (action) कहते हैं। पुरस्कार प्राप्त करने या दण्ड से बचने के लिए देही कर्म करता है। देही की आवश्यकता पूरी होना या सन्तोष मिलना ही पुरस्कार (reward) है। आघात, हानि या सन्तोष प्राप्ति के मार्ग में रोड़े

पहुँचाना (punishment) है। पुरस्कार और दण्ड देने वाली प्रक्रिया को होमन्स उत्तेजना-प्रक्रिया (stimulus process) मानता है। किसी उत्तेजना से प्राप्त होने वाला पुरस्कार उसका मूल्य (value) है। पुरस्कार त्यागने और सजा माँगने को होमन्स कीमत चुकाना (cost) कहता है। पुरस्कारों का महत्त्व समझना और कीमत चुकाने का अनुमान लगाना प्रत्यक्षीकरण (perception) है। किसी उत्तेजना से (जितना या जिस प्रकार का) पुरस्कार दण्ड या कीमत चुकाने का अनुमान लगाना, प्रत्याशा (expectation) है। ये सब होमन्स की आधार अवधारणाएँ (key concepts) हैं, जिनका उपयोग सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण और निगमनमूलक सामान्यानुमान (deductive generalization) निकालने में किया गया है। कुल मिलाकर होमन्स की स्थापनाएँ कुछ इस प्रकार होंगी :

(अ) पुरस्कार या दण्ड का मिलना, हिसाब का चुकता होना (pay off है। व्यवहार पुरस्कार-व-दण्ड (pay off) का परिणाम (function) है।

(ब) एक विशेष प्रकार के व्यवहार और पुरस्कार-दण्ड के भुगतान में (pay off) सहसम्बन्ध (connection) है।

व्यवहार और भुगतान (पुरस्कार-दण्ड) में सहसम्बन्ध कैसे स्थापित होता है? इस पर होमन्स ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण इस सह-सम्बन्ध के लिए जिम्मेदार है। पर्यावरण से प्राप्त होने वाली उत्तेजना के फलस्वरूप कर्म (action) करने से पुरस्कार या दण्ड मिलता है। प्रत्यक्षीकरण द्वारा व्यक्ति विकल्पों का मूल्यांकन करता है और उसके बाद अपनी जिन्दगी का रास्ता चुनता है।

सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण में होमन्स ने दो कोटियों के पदों का (two classes of terms) प्रयोग किया है।

पद (terms)

- विवरणमूलक (descriptive)
  - कार्यकारिता (activity)
  - मनोभाव (sentiment)
  - पारस्परिक क्रिया (interaction)
- परिवर्त्य (variable)
  - कार्यकारिता की मात्रा (quantity of activity)
  - कार्यकारिता की इकाई (unit of activity)

कार्यकारिता, मनोभाव और पारस्परिक क्रिया की व्याख्या वही है जो 'दी ह्यूमन ग्रुप' में दी गयी है। अन्तर केवल इतना है कि मनोभाव को भी यहाँ पर होमन्स ने कार्यकारिता (activity) मान लिया है। कार्यकारिता का कोई अन्त नहीं है। दूसरे अपने कार्यों से किसी व्यक्ति को पुरस्कृत करते हैं तो वह व्यक्ति उस कार्य को अक्सर करता रहता है। एक दफ्तर में नया भर्ती हुआ जूनियर क्लर्क, काम न जानने के कारण, सीनियर सुपरवाइजर से मदद माँगता है। सीनियर से मदद मिलने के बाद वह अपने सीनियर के प्रति आभार प्रकट करता है, बार-बार धन्यवाद प्रकाश करता है। सीनियर उसके इस व्यवहार से पुरस्कृत होता है। जूनियर काम सीख कर पुरस्कृत होता है। दूसरे दिन सीनियर आते ही कहता है—'अजी, जो कुछ समझ में न आये तो मुझसे पूछ लेना।' जूनियर फिर धन्यवाद प्रकाश करता है। धन्यवाद प्रकाश एक प्रतीकात्मक (symbolic) व्यवहार है, जिससे मनोभाव (sentiment) प्रकट होते हैं और दूसरे के मनोभाव को जगाते हैं। मगर मनोभाव कार्यकारिता (activity) भी है। इसी अर्थ में होमन्स मनोभाव (sentiment) को क्रिया या कार्यकारिता (activity) कहता है। किसी व्यक्ति की प्रशंसा करके या उसके कार्यों को मान्यता (approval) प्रदान करके, उसके मनोभावों को प्रबल (re-inforce) बनाया जाता है। प्रशंसनीय कार्य इसीलिए दुहराये जाते हैं। जैसे पैसा देकर किसी को प्रोत्साहित किया जाता है, उसी तरह प्रशंसा और सामाजिक स्वीकृति (social approval) देकर दूसरों को कार्यकारिता के लिए प्रबलित (re-inforced) किया जाता है। प्रशंसा और समर्थन पैसे (money) के समान हैं, उन्हें सम्हाल कर खर्च करना चाहिए।

दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि 'सोशल विहैवियर' (Social Behaviour) में होमन्स ने परिवर्त्य (variable) की व्याख्या की है। परिवर्त्य देही (organism) की दशा है। यह दशा (state of organism) मात्रा और गुण (quantity and quality) में भिन्न-भिन्न हो सकती है। धन्यवाद प्रकाश एक प्रतीकात्मक कार्यकारिता (या व्यवहार) है। अपने आप में धन्यवाद प्रकाश कार्यकारिता की इकाई (unit) भी है। अनेक कार्य व्यवहार का केवल वह भाग जो धन्यवाद प्रकाश तक सीमित है, एक एकाई (unit) भी है। इस प्रकार हँसी-मजाक करना, प्रशंसना करना, सुझाव देना आदि कार्यकारिता की इकाई के उदाहरण हैं। प्रत्येक इकाई मनोभाव से भरपूर है।

एक व्यक्ति दूसरे के प्रति जितनी बार कार्यकारिता की इकाई का उत्सर्जन करेगा उसे बारम्बारता (frequency) कहेंगे। सरल भाषा में इसका अर्थ है

कि पारस्परिक क्रिया द्वारा यह पुरस्कार-दण्ड का आदान-प्रदान करेगा। पुरस्कार से वह सन्तुष्ट होगा। जैसे-जैसे संतोष की मात्रा बढ़ती जायेगी, अगली इकाई का मूल्य (value) घटता जायेगा। अतः कार्यकारिता की मात्रा (quantity of activity) और कार्यकारिता के मूल्य (value of activity) में सह-सम्बन्ध होता है।

सामाजिक विनिमय कथन (social exchange propositions)

होमन्स ने सामाजिक व्यवहार के मौलिक आकारों पर कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले हैं। सामान्यानुमान (generalization) को वाक्यों में रखने से तर्क वाक्य (propositions) या कथन बनते हैं। होमन्स के कुछ कथन निम्नलिखित हैं :

1. सफलता सम्बन्धी कथन (success proposition)

व्यक्ति अपने तमाम कार्यों में से उन्हीं कार्यों को करना चाहेगा जिन पर वह पुरस्कृत हो चुका हो।

2. उत्तेजना सम्बन्धी कथन (stimulus proposition)

अतीत में जिस प्रकार की उत्तेजना पर, कर्म करने पर, व्यक्ति को पुरस्कार मिल चुका है, वर्तमान में भी अगर वैसी ही उत्तेजना मिली, तो वह पहले की भाँति ही कर्म करेगा।

3. मूल्य सम्बन्धी कथन (value proposition)

जिस कर्म के परिणाम जितने ही मूल्यवान् होंगे, व्यक्ति साधारणतः वैसा ही कर्म करेगा।

4. वंचना तृप्ति सम्बन्धी कथन (deprivation-satiation proposition)

अतीत में विशेष प्रकार का पुरस्कार पा लेने के बाद वर्तमान में वैसे ही पुरस्कार का मूल्य घट जाता है। अर्थात् पुरस्कार की अगली इकाई, पिछली इकाई की तुलना में, कम मूल्यवान् होती है, क्योंकि व्यक्ति धीरे-धीरे तृप्त होता जाता है।

5. आक्रामकता अनुमोदन सम्बन्धी कथन (aggression-approval proposition)

व्यक्ति जैसे पुरस्कार की आशा करता है, वैसा पुरस्कार न मिलने पर, या जैसे दण्ड की आशा नहीं करता है, वैसा दण्ड मिल जाने पर, आक्रामक व्यवहार करता है। व्यक्ति तब प्रसन्न होकर अनुमोदन करता है जब उसे आशा से अधिक पुरस्कार मिल जाता है या जिस दण्ड की कल्पना वह करता हो वह दण्ड नहीं मिलता है।

6. विवेकशीलता सम्बन्धी कथन (rationality proposition)

इस कथन का सरल अर्थ यह है कि विकल्पों और परिणामों को समझ-बूझ कर व्यक्ति उस विकल्प को चुनता है, जिसके द्वारा सफल होने की सम्भावना अधिक होती है। सूत्र में इस कथन को इस प्रकार रखते हैं :

कर्म मूल्य सम्भाविता (action = value x probability)

होमन्स के अनुसार उचित विकल्प पर अधिक बल देना विवेकशीलता है।

होमन्स के सभी कथन मनोवैज्ञानिक हैं। वे सामान्य समाजवैज्ञानिक कथन (general sociological propositions) हैं। मगर वे इस अर्थ में सार्वलौकिक कथन (universal proposition) नहीं हैं कि सभी समाजों और समूहों पर लागू हो सकेंगे। उनसे व्यवहारों की एकरूपता (uniformities) का पता चलता है। इन्हें ऐसे निगमनमूलक सामान्यानुमान (deductive generalization) कहेंगे जो मनोवैज्ञानिक नियमों पर आधारित हैं। मगर समाजवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक व्यवहारों का विश्लेषण करते हैं। पूर्वोक्त कथनों पर आधारित कुछ सामान्य नियम निम्नलिखित हैं :

1. लोग उस कार्यकारिता को अधिक करते हैं, जिसका पुरस्कार मूल्यवान् होता है।

2. लोग उस कार्यकारिता को अधिक करते हैं, जिससे सफलता मिलने की सम्भावना अधिक होती है।

3. खेतिहर समाज की तुलना में, औद्योगिक समाज में साक्षरता (literacy) से अधिक पुरस्कार मिलते हैं।

4. इसलिए औद्योगिक समाज में लोग शिक्षा की तरफ अधिक झुकते हैं।

5. अतः जनसंख्या की ऊँची प्रतिशत दर शिक्षा प्राप्त करना चाहेगी।

6. शिक्षा पाने में धन खर्च होगा।

7. खेतिहर समाज की तुलना में, औद्योगिक समाज के लोग अधिक अमीर होते हैं।

8. अतः बड़ी संख्या में लोग शिक्षा प्राप्ति पर धन लगाते हैं।

9. अधिक लोग शिक्षा प्राप्त करना, सफलता प्राप्त करने के बराबर समझते हैं।

10. पूर्वोक्त नियम 1 और 2 के अनुसार अधिक संख्या में लोग शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे।

इन नियमों से यह पता चलता है कि लोग अमीर क्यों हैं ? लोग शिक्षा को पुरस्कारी (rewarding) क्यों मानते हैं ? वास्तव में, ये सभी नियम विवेकशीलता सम्बन्धी कथन (rationality proposition) और सफलता सम्बन्धी कथन (success proposition) का व्यावहारिक रूप है। इस प्रकार के नियमों के सृजन से सामाजिक व्यवहारों का स्पष्ट विश्लेषण होता है।

सामाजिक विनिमय-व्यवहार कीमत (cost) और नफा (profit) की अवधारणा पर आधारित है। जो पुरस्कार प्राप्त करता है, समाज में उसका आदर है और जो पुरस्कार प्रदान करता है वह सत्ताधारी (authority) बन जाता है। होमन्स के विनिमय सिद्धान्त के अनुसार आज का मनुष्य नया आर्थिक मानव (new economic man) है। नफा-नुकसान के तराजू पर अपने हर व्यवहार और कार्यकारिता को तौलता है। यहाँ तक कि दफ्तर में साथ काम करने वाला क्लर्क जब यह निर्णय करता है कि वह अपने सहयोगी की सहायता करे या न करे तो भी नफा-नुकसान का ध्यान रखता है। उसके सामने दो विकल्प होते हैं :

(अ) वह जाकर सहयोगी की सहायता करे और पुरस्कार के रूप में उससे धन्यवाद और अपनी प्रशंसा सुने, या

(ब) वह चुपचाप अपना काम करे।

इसी प्रकार वह सहयोगी, जो सहायता चाहता है, उसके सामने भी दो विकल्प होते हैं :

(अ) वह अपना आत्म-सम्मान बनाये रहे, या

(ब) सहायता माँगे, धन्यवाद प्रकाश करे, मददगार की प्रशंसा करे। अपने आपको हीन (inferior) प्रमाणित करे।

मदद माँगने वाले और मदद करने वाले दोनों के सामने कीमत चुका कर 'कुछ पाना' है। बाजार में सामान बेचने वाले और खरीदने वाले तभी विनिमय करेंगे जब उन्हें लागत (cost) से अधिक, नफा के रूप में कुछ मिलता हो।

होमन्स ने पुरस्कार और कार्यकारिता का भी सह-सम्बन्ध स्थापित किया है। पुरस्कार (भौतिक या मनोवैज्ञानिक) जितना अधिक मिलेगा, कार्यकारिता भी उतनी ही अधिक होगी। पुरस्कार दो, काम लो। काम करो, पुरस्कार लो। मगर कैसा काम ?

होमन्स ने यहाँ सामंजस्य (conformity) की अवधारणा का प्रयोग किया है। समूह कुछ कार्यों को महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् मानता है। जो मूल्यवान् कार्य

करता है, उसे पुरस्कृत किया जाता है। समूह की प्रत्याशा के अनुकूल कार्य करना सामंजस्य है। पुरस्कार पाने वाले का मान-सम्मान बढ़ता है।

पुरस्कार, और दूसरों द्वारा महत्त्वपूर्ण समझे जाने (esteem) में, गहरा सहसम्बन्ध है। मान और प्रतिष्ठा (esteem) प्राप्त व्यक्ति सत्ता (authority) प्राप्त कर लेता है। सत्ता प्राप्त व्यक्ति जब दूसरों को पुरस्कार देने लगता है तो उसका मान और भी अधिक बढ़ जाता है। पुरस्कार पाने से मान प्राप्त होता है। मान-सम्मान से सत्ता मिलती है, सत्ता मिलते ही दूसरों को पुरस्कृत करने की क्षमता मिलती है। अतः 'तुम हमें पुरस्कार दो, हम तुम्हें सम्मान देंगे। समूह के नेता की सत्ता इसी प्रकार के विनिमय पर निर्भर करती है।

विनिमय सिद्धान्त से सम्बन्धित होमन्स का अन्तिम बिन्दु रोचक है और ध्यान देने योग्य भी है। मनुष्य समान श्रम के लिए समान पुरस्कार (distributive Justice) की माँग तो करता है, मगर वह समानता नहीं बल्कि असमानता चाहता है। जितना पुरस्कार हम पावें, दूसरे उससे कम पावें यह है मनुष्य की मौलिक (elementary) या उपसंस्थागत (sub-institutional) स्थिति। होमन्स ने मजदूरों का उदाहरण दिया है। मजदूर केवल 'जीवित रहने की सुविधा' (subsistence level) की लड़ाई तक तो एक रहते हैं। जैसे-जैसे मजदूरी बढ़ती जाती है, मजदूरों का प्रतिष्ठास्तर भी उतना ही अधिक होता जाता है। पुरस्कार के प्रश्न को लेकर एक स्तर के मजदूर, दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। पुरस्कार की मात्रा के बढ़ने से मजदूरों की एकता भंग होती है।

पुरस्कार और विनिमय मौलिक व्यवहार हैं, मनुष्य का वास्तविक स्वभाव हैं। होमन्स के अनुसार मौलिक व्यवहार उपसंस्थागत स्तर (sub-institutional level) पर होते हैं। उपसंस्थागत स्तर संस्था के आकार को तोड़ देता है। इसलिए हर क्रान्ति में उपसंस्थागत व्यवहारों को प्रभावित करने वाले नारे दिये जाते हैं। जहाँ पर संस्थागत और उपसंस्थागत स्तरों में संघर्ष होता है, वहाँ पर, होमन्स का कथन है कि पुरानी संस्था धराशायी नहीं होती है, बल्कि नयी संस्था जन्म लेती है। इस प्रकार के व्यवहारों को पुरस्कृत करके नई संस्था का निर्माण कर लिया जाता है, जिसके कारण पुरानी संस्था अपने आप दब जाती है। सभ्य आदमी की यह मजबूरी है कि वह अपनी ही बनायी हुई संस्थाओं के साथ नहीं रह सकता। वैकल्पिक व्यवहारों को पुरस्कृत करके, नई संस्था बना लेता है, पुरानी को दबा देता है।

समालोचना :

होमन्स के अनुसार व्यक्ति विवेकशील होकर पुरस्कार प्राप्त करना चाहता

है। समझ-बूझकर कीमत चुकाता है। प्रश्न उठता है कि क्या वास्तविक जीवन में व्यक्ति पुरस्कार प्राप्ति के लिए विवेकपूर्ण रीति से निर्णय लेता है ? सम्भवतः ऐसा होता नहीं। पूर्वनिर्णय (prior cal culation) के अभाव में भी व्यक्ति को कभी-कभी पुरस्कार मिल जाता है। जैसे दान में धन मिलना या बिन माँगे पुरस्कृत होना।

इसके अतिरिक्त आलोचना के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु भी हैं :

1. एक ही बात को दूसरे शब्दों में दुबारा कहना

होमन्स ने अपनी मूल अवधारणाओं की व्याख्या समानार्थक वाक्यों में की है। तर्क की इस पद्धति को पुनरुक्ति (tautology) कहते हैं। जैसे—

(अ) पुरस्कार क्या है ?

मूल्यवान् सन्तोष पुरस्कार है।

(ब) मूल्य क्या है ?

पुरस्कार का अंश (degree of reward) मूल्य है।

(स) कार्य क्या है ?

पुरस्कार खोजने वाली कार्यकारिता (activity) कार्य (action) है।

इन प्रमुख अवधारणाओं को परिभाषा में एक ही बात को दूसरे शब्दों में दुहरा दिया गया है। इस तरह को परिभाषा से सिद्धान्त बनाना कठिन है। होमन्स के सभी कथन (propositions) कुछ इस प्रकार हैं : 'कार्य के परिणाम जितने ही अधिक मूल्यवान् होंगे, व्यक्ति उन कार्यों को उतना ही अधिक करेंगे।' 'मूल्य' पुरस्कार का अंश है और 'कार्य' पुरस्कार-खोजी व्यवहार है। इन कथनों में तर्क का चक्रक दोष (circularity) निहित है।

होमन्स इस दोष को निगमनमूलक निष्कर्ष (deduction) द्वारा दूर करना चाहता है। जैसे—

राम (एक मनुष्य) मरणशील है।
इसलिए कि सभी मनुष्य मरणशील हैं।

सभी मनुष्य मरणशील हैं, आगमन (deduction) हैं, अर्थात् एक व्यापक सत्य है। राम का मरणशील होना, इस व्यापक सत्य से प्रमाणित होता है। तर्क की इस पद्धति से, दूसरे शब्दों में दुहरायी हुई बात (tautology) सार्थक और पहली बात से भिन्न लगती है। फिर भी बात बनती नहीं है। होमन्स के अनुसार :

लोग वह कार्य करते हैं जिससे पुरस्कार मिलता है ।
शिक्षा से पुरस्कार मिलता है ।
इसलिए लोग शिक्षा ग्रहण करते हैं ।

पहले तो इस तर्क में चक्रक दोष है । दूसरे, बात 'कार्य' और 'पुरस्कार' से आगे नहीं बढ़ती । कोई भिन्न निष्कर्ष नहीं निकलता । सैद्धान्तिक तर्क आगे नहीं बढ़ता है ।

2. पुनरुक्ति (tautology) पर आधारित पूर्वानुमान (prediction)

पुनरुक्ति पर आधारित तर्क से जो विनिमय (exchange) का अनुमान लगाया जाता है, क्या वह पूर्वानुमान (prediction) होगा । औद्योगिकीकरण के साथ शिक्षा बढ़ेगी, यह प्रक्रिया (process) का विवरण या पूर्वानुमान (prediction) है । आलोचकों का मत है कि यह प्रक्रिया का विवेचन है, पूर्वानुमान नहीं है । 'औद्योगिकीकरण' और 'शिक्षा' दो वास्तविक तथ्यों (facts) का जोड़ है, विनिमयमूलक पूर्वानुमान नहीं है ।

3. सरलीकरण की समस्या (problem of reductionism)

किसी घटना की व्याख्या करने की एक पद्धति यह है कि सरल करते-करते उस घटना के सबसे सरल (elementary form) भाग पर पहुँचा जाये, फिर उस छोटे या अति सरल भाग की विशेषताओं को जानकर पूरी घटना का विश्लेषण किया जाये । एक इमारत को लीजिए । इमारत की बनावट में सबसे छोटा या सरल टुकड़ा ईंटों का है । मगर केवल ईंटों से इमारत की बनावट का विश्लेषण नहीं हो सकता । ईंटों में जो 'परस्पर सम्बन्ध' है, वह भी उन सरल टुकड़ों का आवश्यक अंग है । सरल इकाई और इकाइयों के परस्पर रिश्ते दोनों ही इमारत के विश्लेषण के लिये आवश्यक हैं । मात्र अति सरल तत्त्व किसी घटना का विश्लेषण नहीं कर पाते ।

होमन्स ने सामाजिक व्यवहार के अति सरल या मौलिक आकारों (elementary form of behaviour) को निकालने के बाद उन्हें परस्पर जोड़ने का प्रयास किया है । व्यवहार के तत्त्वों की परस्पर निर्भरता से समूह, संगठन और संस्थाएँ बनती (emerge) हैं । सरलीकरण के कुछ दोषों से बचने का प्रयास होमन्स ने किया है ।

4. समस्या के पुनर्निर्माण की समस्या

'आज की सभ्यता के पुनर्निर्माण' का प्रश्न होमन्स के सामने भी है और वह इस प्रश्न का समाज वैज्ञानिक उत्तर देना चाहता है । यदि हम जान जायें कि

सामाजिक व्यवहार के तत्त्व (elements) क्या हैं तो उन तत्त्वों के ईंट-गारे से नया महल खड़ा भी किया जा सकता है। समाज की इकाई समूह है। समूह के तत्त्वों का विवेचन होमन्स ने कर ही दिया है। मानव व्यवहार के कुछ मौलिक आकार (elementary forms) भी उसने बता दिये। दोनों को मिलाकर वर्तमान सभ्यता का पुनर्निर्माण हो सकता है। होमन्स ने पुनर्निर्माण का सैद्धान्तिक आधार दिया।

होमन्स को सभ्यता पतन की ओर जाती हुई क्यों दिखाई पड़ती है ?

होमन्स ने विवेचना करते हुए लिखा है कि आज की सभ्यता में मनुष्य का मनुष्य से जोड़ (link) टूट गया है। मनुष्य अकेला है, क्षुब्ध है, आस्थाहीन है। ऐसा आदमी कहीं क्रान्ति न कर बैठे। क्रान्ति के नारों में 'भाई-चारे' (brotherhood) की अपील होती है। भाई-चारा छोटे समूह की विशेषता है, और छोटे समूह मिल गये हैं। होमन्स ने भावना के भूखे, समूहों से कटे, अकेले लोगों के समाज (mass society) में भाई-चारे के मनोभाव पर होने वाली क्रान्ति या अधिनायकवाद (authoritarianism) की स्थापना का खतरा समझ लिया। जनतंत्र (democracy) की सीमा यह है कि वह व्यक्ति को मनोदशा (अकेलापन) का उपचार नहीं कर सकता है। आधुनिक औद्योगिक जनतान्त्रिक समाज में केन्द्रीकरण (centralization) अवश्य होगा। बगैर केन्द्रीकरण के आधुनिक समाज व्यवस्थित हो ही नहीं सकता है। होमन्स केन्द्रीकरण के साथ समाज के छोटे समूहों का विकेन्द्रीकरण भी चाहता है। केन्द्र के साथ, केन्द्र की परिधि (periphery), जिस पर छोटे समूह हैं, सम्मिलित हैं। होमन्स का विचार है कि जनतंत्र तभी सफल हो सकता है, जब केन्द्र शक्तिशाली (strong center) हो। परन्तु परिधि पर रहने वाले छोटे समूहों का परिधि (periphery) अस्तित्व भी नष्ट न हो जाये।

होमन्स के पूरे सिद्धान्त का निचोड़ यह है कि छोटे समूहों में सहयोग (co-operativeness) अधिक होता है। आवश्यकता से अधिक सहयोग को होमन्स अतिरिक्त सहयोग (surplus do-operativeness) कहता है। अतिरिक्त सहयोग की भावना से प्रेरित होकर मानव-समूह ने प्रकृति की चुनौतियों का मुकाबिला करके मानव-सभ्यता का विकास किया है। प्रोद्योगिकी के विकास के साथ समाज और सभ्यता का आकार बड़ा होता गया और अतिरिक्त सहयोग लुप्त होता गया। परिणामतः आज के युग में व्यक्ति का व्यक्ति से जोड़ कट चुका है।

सभ्यता के पुनर्निर्माण की दृष्टि से, छोटे समूहों के अध्ययन को होमन्स ने तर्कसंगत (relevant) बना दिया है। अन्यथा परम्परागत समाज और

सहयोग के टूटने पर आँसू बहाने का काम फ्रांसिसी क्रान्ति के बाद से आरम्भ हुआ और आज तक चल रहा है। इतिहास क्रम ने जिस व्यवस्था को नष्ट कर दिया, उसके लिए कून्त, दुर्खीम से लेकर होमन्स तक आँसू बहा रहे हैं। इनके साथ कवियों और कलाकारों ने इस दुःख को और भी गहरा कर दिया है। सभ्यता के पुनर्निर्माण का समाधान देने में होमन्स वैज्ञानिक कम, धार्मिक अधिक हो गया है।

हम इस बिन्दु पर होमन्स की आलोचना करना नहीं चाहते और न ही यह कहना चाहते हैं कि ऐतिहासिक विकास के नियमों के अनुसार छोटे समूह की प्यारी दुनिया तक की कल्पना कहाँ तक वैज्ञानिक है। हमें केवल इतना कहना है कि होमन्स स्थायित्व (permanence) की खोज से पीड़ित है। छोटे समूह के मूल तत्त्व के अनुसार 'प्रेम करो', 'शान्तिपूर्वक रहो'—यह धार्मिक आराधना है, वैज्ञानिकता नहीं। ऐतिहासिक कारणों से समाज जिस जटिलता और 'दुःख-दर्द की दुनिया' में बदल गया है, उसे समझना, सहन करना और उसे मोड़ देना, किसी हद तक, वैज्ञानिकता हो सकती है।

पीटर एम० ब्लाव
(Peter M. Blau)

असंतुलित विनिमय (unbalanced exchange)

विनिमयवादी समाज की दो या दो से कुछ अधिक व्यक्तियों के समूहों में विभाजित घटना मानते हैं। हर व्यक्ति दूसरे से सम्बन्ध बनाने में अपना नफा-नुकसान ध्यान में रखता है और चाहता है कि कम-से-कम दाम चुका कर अधिक-से-अधिक नफा उठा ले। पुरस्कार और उसके लिए चुकाने वाले दाम के आधार पर, सामाजिक सम्बन्धों में विनिमय होता रहता है। ऐसा भी होता है कि दूसरे व्यक्ति (जो कि शक्तिशाली हैं) को प्रसन्न करने के लिए, मिलने वाले लाभ से अधिक, दाम चुकाना पड़ता है। इस प्रकार के विनिमय सम्बन्धों को 'असंतुलित विनिमय' कहते हैं। ब्लाव इस तरह के विवेचन से बहुत प्रभावित हैं, और सम्बन्धों और शक्ति का विवेचन असंतुलित विनिमय के आधार पर करना चाहता है। अफसर की निगाह में मात्र महत्त्वपूर्ण बनने के लिए मातहत बड़े-बड़े दुःख झेलता है। माँ-बाप को प्रसन्न करने में संतानो अपने प्रेम को त्यागना पड़ता है। सन्तान को सफल बनाने में माँ-बाप अपने सुखों का त्याग करते हैं। त्याग की मात्रा (दाम) के अनुसार पुरस्कार (लाभ) जब नहीं मिलता तो विनिमय असंतुलित होता है। मगर समाज में असंतुलित

विनिमय पर आधारित सम्बन्ध भी संस्थागत होते हैं, बनते और बिगड़ते रहते हैं। विनिमयवादी समाज को लगे हुए बाजार का स्थान (market place) मानते हैं। हर व्यक्ति दाम और नफा-नुकसान को ध्यान में रखकर यहाँ सौदा करता है। इस प्रवृत्ति को उपयोगवादी प्रवृत्ति (utilitarianism) कहते हैं।

लोगों के सामाजिक व्यवहार स्पर्धापूर्ण होते हैं और होड़ इस बात के लिए होती है कि दूसरे को प्रभावित करके अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जाये। यह बात सच्चाई से बहुत दूर नहीं है। ब्लाव ने विनिमय का कोई कठोर सिद्धान्त नहीं निकला। कुछ नियम अवश्य बताये हैं। विनिमय का आधार इन नियमों के आस-पास होता है—

1. लोग उस व्यवहार विशेष या कार्य को अधिक करेंगे जिसके द्वारा दूसरों से लाभ प्राप्त होता है।

2. एक-दूसरे से लोग लाभ का अदला-बदला जितना अधिक करेंगे, उतना ही अधिक एक दूसरे के प्रति कृतज्ञ होंगे और अपने व्यवहारों को कृतज्ञतापूर्ण चलाते रहेंगे।

3. विनिमय-सम्बन्ध का जो पक्ष उल्लंघन करता है, दूसरे उसे किसी-न-किसी रूप में दण्डित करते हैं।

4. जिस व्यवहार या कार्य से लगातार पुरस्कार मिलता रहता है उसका महत्त्व घट जाता है।

5. विनिमय-सम्बन्ध (लेन-देन सम्बन्ध) जितने अधिक स्थिर होते हैं, विनिमय उतना ही न्यायसंगत होता है।

6. विनिमय की न्याय संगतता के नियमों का उल्लंघन जितना अधिक होगा, दण्ड की मात्रा उतनी बढ़ती जायेगी।

7. कुछ विनिमय-सम्बन्ध अगर बहुत सन्तुलित होंगे तो दूसरे विनिमय-सम्बन्ध असन्तुलित हो जायेंगे।

असन्तुलित विनिमय के परिणाम

विनिमय में जिस पक्ष को कुछ नहीं मिलता है, उसे 'सामाजिक स्वीकृति' (social approval) मिलती है। लोग उस पक्ष की तारीफें करते हैं, सराहते हैं और आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कुछ न मिलने पर भी सम्बन्ध टूटते नहीं हैं। क्योंकि 'सामाजिक स्वीकृति' के कारण व्यक्ति सन्तुष्ट होकर सम्बन्ध निबाहता रहता है। भारतीय नारी, जिसकी बड़ी प्रशंसा की जाती है, इसी कोटि में आती है। ऐसा भी होता है कि जिसके लिए हम अपना घर-बार लुटा देते हैं वही कहता है कि यह व्यक्ति बेघर-बार का उजड़ा हुआ व्यक्ति है, और सम्बन्ध रखने के काबिल नहीं है। कुछ आश्चर्य नहीं कि वह उजड़ा हुआ व्यक्ति कवि हो जाये। फिर कवि होने के कारण सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो जाये।

ब्लाव के अनुसार विनिमय असन्तुलित होने पर भी सामाजिक सम्बन्ध टूटते नहीं, चलते रहते हैं।

विनिमय-सम्बन्ध में जो पक्ष शक्तिशाली होता है, वह साधन-सम्पन्न भी होता है और पुरस्कार पर रोक लगा सकता है। दूसरों पर रोके हुए पुरस्कार का कर्ज लाद सकता है और अवसर मिलने पर कर्ज चुकाने की माँग कर सकता है। अधीनस्थ व्यक्ति, जो अहसान से दबा होता है, कर्ज चुकाने के लिए मजबूर होगा। शक्तिशाली और अधीनस्थ के बीच शक्ति-सम्बन्ध इसी प्रकार के होते हैं।

अधीनस्थ बिना पुरस्कार पाये भी दाम चुकाता रहता है केवल इसलिए कि एक शक्तिशाली व्यक्ति का हाथ उसके सिर पर है, वह सुरक्षित है। इच्छा न होते हुए भी सत्ताधारी से मातहती के सम्बन्ध चलते रहते हैं।

ब्लाव ने सामाजिक-संरचना की व्याख्या प्रकार्यवादियों से कुछ भिन्न रूप में की है। प्रकार्यवाद के अनुसार जब तक सामूहिक लक्ष्य की खोज जारी रहती है, सामाजिक संरचना बनी रहती है। ब्लाव के अनुसार सामाजिक संरचना जब तक औरस (legitimate) रहती है, बनी रहती है। जहाँ सामाजिक संरचना भ्रष्ट हो जाती है, या जहाँ शक्ति का दबाव बढ़ जाता है, वहाँ सदस्यगण अपनी औरसता वापस खींच लेते हैं। और ऐसे व्यक्ति तथा समूह उभर कर सामने आते हैं, जो संरचना को परिवर्तित करना चाहते हैं।

अतः विनिमय से सामाजिक-संरचना स्थिर रहती है लेकिन अधिक असन्तुलित विनिमय से बदल भी जाती है।

REFERENCE

1. C. Homans, The Human Group, New York : Harcourt, Brace & Co., 1950.
2. C. Homans, Social Behaviour–its elementary forms, New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1961.
3. C. Homans, The Nature of Social Science, New York : Harcourt, Brace & World, 1967.
4. C. Homans, Fundamental Social Processes in Sociology, ed, N.J. Smelser, New York : John Wiley & Cons, 1967.
5. C. Homans, Contemporary Theory in Sociology, in Handbook of Modern Sociology, ed. R. E. L. Faris, Chicago : Rand Mc Nally, 1964.
6. Blau, Exchange and Power in Social Life, John Wiley & Sons, New York, 1964.

प्रतीकात्मक पारस्परिक-क्रियावाद
(SYMBOLIC INTERACTIONISM)

प्रतीक और अर्थबोध

अर्थबोध (meaning) को प्रतीक कहते हैं । आप हाथ के इशारे से किसी व्यक्ति को अपने पास बुलाते हैं । वह 'हाथ के इशारे' का अर्थ समझकर आप-के समीप आता है । यह प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रिया है । इस प्रकार की पार-स्परिक क्रिया इसलिए समरूप होती है कि दोनों व्यक्तियों के पास प्रतीकों को समझने के लिए मन (mind) है, समझ है । मन व्यक्ति का होता है या व्यक्ति के पास होता, या यों कहें, मन ही व्यक्ति है । अगर व्यक्ति, अपना मन न होता तो क्या पारस्परिक क्रिया सम्भव होती ? क्या समाज सम्भव होता ? तो क्या, व्यक्ति से पृथक् समाज का कोई अस्तित्व नहीं है ? क्या सामाजिक प्रक्रि-याएँ वास्तव में मात्र व्यक्ति के मन में होने वाली प्रक्रियाएँ हैं ? ये सारे प्रश्न बड़े उलझे हुए हैं ।

कुछ समाजवैज्ञानिक मानते हैं कि समाज, व्यक्ति से बाहर, एक संरचना (structure) है । उनके लिए समाज वस्तुपरक यथार्थ (objective reality) है । 'व्यक्ति कमरे में है' और 'व्यक्ति समाज में है' इन दोनों वाक्यों के अर्थबोध में समानता है । उनके अनुसार 'मस्तिष्क की गतिविधियाँ' समान नहीं हैं । एक व्यक्ति बैंक से रुपया निकालता है, बाजार से सामान खरीदकर, घर आता है । उसकी गतिविधियाँ, उससे बाहर, समाज में हो रही थीं । मगर वह जो कुछ कर रहा था, मन से कर रहा था । अगर उसके पास मन (चित्त, समझ, अनुबोध) न होता तो वह कुछ न करता । अतः समाज की अवधारणा से हम जो कुछ भी समझते हैं, वह मन की उपज है, या यों कहें, मन की उपज का रूपान्तरण (symbolic transformation) है । इसका विलोम भी सत्य है कि सामाजिक परिवेश का रूपान्तरण मन और स्व (mind) में होता है । इसी से मिलता-जुलता एक प्रश्न और भी है । सामाजिक संरचना कहाँ बनती हैं ? चेतना में या चेतना से बाहर ? संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से सामाजिक संरचना व्यक्ति की चेतना से बाहर है और यह 'कुछ' है । प्रतीकात्मक पारस्परिक-क्रिया-वादी दृष्टिबिन्दु के अनुसार सामाजिक संरचना व्यक्ति की चेतना में बनती,

बिगड़ती और परिवर्तित होती है। प्रतीकात्मक पारस्परिक-क्रियावादी दृष्टिप्रारूप संरचना-प्रकार्यवाद (structural-functionalism) का विरोधी विकल्प माना जाता है। यह मात्र दृष्टिप्रारूप (perspective) है, सिद्धान्त नहीं है। मगर 'चेतना' (consciousness) सम्बन्धी विचारधाराएँ सनातन हैं और इनके स्रोत पश्चिमी दर्शन से जुड़े हुए हैं। वर्तमान समाजवैज्ञानिक जगत् में व्यक्ति की चेतना को केन्द्र मानकर सशक्त विचारधाराएं और विचार-आन्दोलन उभर आये हैं।

चेतना में संरचना (structure-in-consciousness)

- प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद (symbolic interactionism)
  - नाटककारीय दृष्टिप्रारूप (dramaturgical approach)
- घटनाक्रिया विज्ञान (phenomenology)
  - लोकविधि-विज्ञान (ethnomethodology)
- सामाजिक संरचनावाद (social structuralism)
- भाषा संरचनावाद (linguistic structuralism)

आज का समाजविज्ञान का विद्यार्थी विचार-आन्दोलनों से अछूता नहीं रह सकता है। निःसन्देह इन आन्दोलनों ने कार्यविधिकी (methodology) में नयी सम्भावनाओं की खोज की है और सामाजिक अध्ययन के उस पक्ष को उजागर किया है जिसकी उपेक्षा बहुत दिनों से हो रही थी। इनकी सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है। लेकिन इनसे समाजविज्ञान में जो कार्य विधिकीय, अवधारणामूलक एवं सैद्धान्तिक हलचल मच गयी है, उसकी प्रारम्भिक जानकारी से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। साधन और समय की परिसीमा से विवश होकर, हमारा प्रयास अत्यन्त आवश्यक रूपरेखा तक ही सीमित रहेगा। प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद के अन्तर्गत शिकागो स्कूल (Chicago school), आयवा स्कूल (Iowa school) और इर्विन गाफमन (Ervin Goffman) नाटककारीय दृष्टिप्रारूप (dramaturgical approach) की विवेचना करेंगे।

दो-चार मित्रों का समूह छोटी रचना (micro-structure), और राष्ट्र, सामाजिक-वर्ग, पार्टी, अधिकारीतन्त्र बड़ी संरचना (macrostructure) के

नमूने हैं। कहा जाता है 'राष्ट्र चल पड़ा'; 'वर्गों में संघर्ष हो गया', 'पार्टी हार जायेगी', 'अधिकारीतन्त्र नियम पालन करता है।' लगता है ये संरचनाएँ 'सजीव' हैं या 'रेल की पटरी' के समान ठोस वस्तुएँ हैं। जैसे, इनके आकारों में समाज 'भरा हुआ' है। अधिकांश समाजवैज्ञानिकों ने समाज का विश्लेषण इस प्रकार की मैक्रो संरचनाओं द्वारा किया है—स्पेन्सर, मार्क्स, मैक्सवेबर के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावादी दृष्टिकोण के अनुसार संरचनाएँ नहीं, व्यक्ति व्यवहार करता है। और जब, व्यक्ति व्यवहार करता है तो उसकी चेतना, जो अर्थ बोध का स्वरूप है, कार्य करती है। वर्ग नहीं संघर्षरत होते हैं, व्यक्ति संघर्षरत होते हैं। अधिकारी-तन्त्र नहीं, बल्कि अधिकारी (व्यक्ति) नियम का पालन करता है। राष्ट्र नहीं, नागरिक जागता है। संगठित व्यवहार के मूल में भी व्यक्ति ही होता है। प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावादी इस वास्तविकता पर ध्यान नहीं देते कि उद्देश्य पूर्ति के लिए, लोग अपने आपको 'राष्ट्र' या 'समूह' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से, बहुत से व्यक्ति अनेक व्यक्तियों से पारस्परिक क्रिया (interact) करते हैं। पारस्परिक क्रियाओं से प्रभाव उत्पन्न होते हैं, परिणाम निकलते हैं, जिन्हें समाज कहें, समूह कहें। संरचना कहें, मगर व्यक्ति से पृथक्, इन सबका कोई अस्तित्व नहीं होता। अतः विश्लेषण की इकाई व्यक्ति, व्यक्ति में भी उसकी चेतना और चेतना एवं समाज के परस्पर सम्बन्धों से उत्पन्न स्व (self) है। स्व की अवधारणा को जार्ज हरबर्ट मीड (George Herbert Mead) से पहले, ज़िम्मेल (Simmel), जेम्स (James), डेवी (Dewey) आदि ने भी दिया है, लेकिन मीड और कूली की 'स्व' की अवधारणा विशेष रूप से यहाँ तर्कसंगत है।

जार्ज हरबर्ट मीड : 'स्व' की अवधारणा

मीड मानता है कि मनुष्य कमजोर शरीरधारी प्राणी है, इसलिए वह दूसरों से सहयोग करके ही जीवित रह सकता है। सहयोग और समायोजन (co-operation and adjustment) के आधार पर ही मनुष्य जीवित रह सकता है, अतः मीड की दो बुनियादी स्थापनाएँ हैं। पहली, शारीरिक दुर्बलता के कारण मनुष्य में सहयोग की आवश्यकता होती है। दूसरी, सहयोग की प्रक्रिया व्यक्तियों के मन से प्रारम्भ होती है। इन स्थापनाओं के साथ, मीड ने मानव मन की कुछ विशेषताओं को भी बताया है।[1]

---

1. Mead, Mind Self and Society, Chicago University Press, 1934. Mead, Selected Writings, Bobbs-Mervill & Co. Indianpolis, 1964.

8

(अ) मनुष्य का मन प्रतीकों का सृजन और उपयोग करता है। बाहरी जगत् की वस्तुओं को प्रतीक और चिह्नों से समझता है।

(ब) बाहरी जगत् की वस्तुओं से कल्पना-चित्र बनाता है और कल्पना जगत् में मनुष्य यह भी तय करता है कि उन वस्तुओं को वह कैसे प्रयोग में लाये या उन वस्तुओं के समक्ष क्या करे और क्या न करे। अतः कल्पना जगत् ही में वह वस्तुओं के प्रति कार्य के वैकल्पिक प्रारूप तैयार करता है।

(स) और, अनुपयुक्त मार्गों को छोड़कर (वैकल्पिक), जिस मार्ग को वह उचित समझता है, उस पर अमल करता है।

उपर्युक्त समस्त मानसिक प्रक्रिया को मीड 'कल्पना-में-पूर्वाभ्यास' (imaginative rehersal) कहता है, और यह क्षमता मनुष्य के पास होती है। मनुष्य का मन एक प्रक्रिया (process) है, संरचना (structure) नहीं। 'कल्पना-में-पूर्वाभ्यास' की क्षमता पर ही सहयोग, समूह और समाज का अस्तित्व निर्भर होता है। अगर मानव के बालक में इस क्षमता का विकास न होता तो समाज और स्व दोनों का अस्तित्व न होता।

मनुष्य का मन चयन (selective process) करता है और उन संकेतों को ग्रहण करता है जिनसे सहयोग उत्पन्न हो और जीवन चलता रहे। बालक को यह भी सिखाया जाता है कि कौन सा संकेत (gesture) ग्रहण करे और कौन-सा न ग्रहण करे। भूल-प्रयत्न द्वारा, या सीखने के द्वारा बालक यह समझ लेता है कि कौन ऐसे संकेत (प्रतीक) हैं जिसका वह और 'दूसरे लोग' भी समान अर्थ (common meaning) लगाते हैं। आग का अर्थ है जलाना, यह बालक भी समझता है और 'दूसरे' भी। इस प्रकार के समान अर्थबोध वाले संकेतों को मीड 'परिपाटिक संकेत' (conventional gesture) कहता है। इन्हीं संकेतों के माध्यम से पारस्परिक क्रियाएँ होती हैं। समान वस्तुओं, आवश्यकताओं और इच्छाओं का बोध होता है। विचारों का आदान-प्रदान होता है, परिवेश से समायोजन की क्षमता बढ़ती है। बालक के मन के विकास का यह महत्त्वपूर्ण स्तर है। इस क्षमता का परिणाम यह होता है कि बालक दूसरों की सामाजिक भूमिका ग्रहण करने लगता है। अपने को दूसरों के स्थान पर रख कर, उन्हीं के समान, भूमिका निर्वाह करने लगता है।

स्व (self)

मनुष्य का मन एक प्रक्रिया है। जब उसमें प्रतीकों के समझने की क्षमता आ जाती है तो वह कल्पना पटल पर, वस्तुओं और व्यक्तियों का प्रतीकात्मक (symbolic forms), आकार बना सकता है। जिस तरह कठपुतलियों का खेल मंच

पर होता है उसी तरह कल्पना में प्रतीकात्मक स्वरूपों का मंचन प्रारम्भ हो जाता है। कल्पना के मंच पर प्रतीकात्मक आकार वस्तु (object) के समान होता है। व्यक्ति अपने कल्पना-जगत् में उन्हें वस्तु के समान, जहाँ चाहे रखे, हटाये, बढ़ाये या नयी-नयी वस्तुओं को जोड़े। हम-आप सभी प्रतिदिन इस प्रकार के प्रतीकात्मक मंचन करते रहते हैं। अपने कलचर के अनुसार, किसी बालक की कल्पना में मंचन के दो नमूने नीचे दिये जा रहे हैं। बालक कल्पना करता है कि :

(अ) गर्मी की दुपहरी में छायेदार वृक्ष के नीचे उसके दादाजी गाँव के अन्य बड़े-बूढ़ों के साथ, बैठे हुए हुक्का पी रहे हैं, और इस बीच वह (बालक वस्तु के रूप में अपने आपको मंच पर प्रेषित करता है) दूसरे बच्चों के साथ, गाली-गलौज करता, बीड़ी पीता, पहुँच जाता है। दादाजी उसे अपने पास बुलाते हैं और डाँटते हैं, साथ बैठे दूसरे लोग भी बालक को फटकारते हैं और कहते हैं 'दूर हो यहाँ से।'

(ब) उसी दृश्य में साफ-सुथरा बालक आता है। बड़े-बूढ़ों को पैर छूकर प्रणाम करता है। 'बेटा खुश रहो', 'किस दर्जे में पढ़ते हो ?' बालक सरल स्वाभाविक भाषा में अदब से हर प्रश्न का उत्तर देता है। उसके दादाजी गर्व से फूले नहीं समाते, आखिर है तो उन्हीं के बेटे का बेटा। 'जाओ जरा हुक्का ताजा कर लाओ'। बालक आज्ञा पालन करने चला जाता है।

कल्पना जगत् में अपने को और दूसरों को काल्पनिक वस्तुओं के रूप में रख कर, आत्ममूल्यांकन कैसे होता है, इसका स्पष्टीकरण इन दोनों नमूनों में किया गया है। ये नमूने ग्रामीण पारिवारिक जीवन से लिये गये हैं। इनमें 'मैं' और 'दूसरों' का सम्बन्ध दिखाते हुए बताया गया है कि दूसरों की निगाहों में, 'स्व' (मैं) अपना मूल्यांकन कैसे करता है। पहले कल्पना-मंच पर बालक का आत्म-मूल्यांकन होगा कि 'दूसरे (जो उसके लिए महत्त्वपूर्ण हैं) उसे नापसन्द करते हैं', दूसरे कल्पना मंच पर बालक का आत्म मूल्यांकन होगा कि 'दूसरे उसे पसन्द करते हैं।' इस प्रकार के मूल्यांकन से बालक भूमिका ग्रहण (role-taking) करता है। मीड के अनुसार, आत्मबोध (self-conception) भी इसी प्रकार उत्पन्न होता है। सामान्यीकृत दूसरे (the generalized others), और दूसरों की अभिवृत्तियाँ, व्यक्ति को यह आत्मबोध कराती हैं कि 'वह एक विशेष प्रकार का व्यक्ति है।' मीड इस बोध को मैं (I) कहता है। 'मैं' जब दूसरे के साथ व्यवहार करता है, या दूसरे के सम्बन्ध में आता है तो, 'मुझे' (me) हो जाता है। सामाजिकता 'मुझे' के बोध से उत्पन्न होती है। 'मैं' का बोध व्यक्ति

के आवेग (impulsive) से जुड़ा होता है। जब कि 'मुझे' का बोध उसे दूसरों से जोड़ता है।

समाज (society)

संस्था और संस्थागत व्यवहार को मीड समाज कहता है। संस्थागत व्यवहार का अर्थ होता है नियन्त्रित व्यवहार। समाज (संस्थागत व्यवहार) की नींव नियन्त्रण पर टिकी हुई है। भूमिका-ग्रहण करना, स्वयं को नियन्त्रित करना है। इसी बिन्दु पर 'स्व' और 'दूसरे' आकर मिलते हैं। पारस्परिक क्रियायें करते हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। मीड के अनुसार नियन्त्रण का स्रोत कल्पना में, अर्थात् मन में है। अतः समाज, मन द्वारा, संरचित घटना है। तालमेल के साथ समन्वयकारी क्रियाओं को (coordinated activities) समाज कहते हैं। आत्ममूल्यांकन और भूमिका-ग्रहण से समाज सम्भव होता है। समाज और व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध की विवेचना करने में मीड की सफलता महत्त्वपूर्ण है। निःसन्देह परिवेश और उसकी वस्तुएँ हमारी चेतना से बाहर हैं। मगर परिवेश का प्रकार्य (function) क्या है ? वह हमें कैसे प्रभावित करता है ? परिवेश का प्रकार्य ढह कर ढेर होकर या आयतित होकर (collapsed act), चेतना में प्रवेश कर जाना है। इस प्रकार परिवेश का प्रभाव चेतना पर पड़ता है, चेतना द्वारा निर्मित प्रतीक और आकार परिवेश को प्रभावित करते हैं। समाज और व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज का अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने में मीड की विवेचना, एक सत्य की स्थापना भी है।

मीड से प्रेरित होकर, प्रतीकात्मक पारस्परिक-क्रियावादी प्रवृत्तियाँ जागृत हो गयी हैं। इनमें शिकागो स्कूल के बिल्युमर (Blumer) और आयवा स्कूल, कैलिफोर्निया के कूहन (M. H. Kuhan) का नाम उल्लेखनीय है। इन दो के अतिरिक्त भी कुछएक प्रवृत्तियाँ और लेखक हैं। लेकिन शिकागो और आयवा स्कूलों के नाम से प्रसिद्ध, इन दोनों की प्रवृत्तियों में कुछ समानता और कुछ भिन्नता है। हम इन्हीं दोनों स्कूलों की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

अमरीकी समाज और 'जीवन की अमरीकी शैली' में ही प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद ऐसी विचारधाराएँ पनप सकती हैं। जिस समाज में मानवीय सम्बन्ध अस्थिर और स्वतः प्रेरित (spontaneous) सहज और मुक्त होंगे, वहीं ऐसी प्रवृत्तियाँ फल-फूल सकती हैं। भारत ऐसे समाज में, जहाँ व्यक्तिपरिवार, जाति, सम्प्रदाय की संरचना में जकड़ा रहता है, वहाँ स्वतः प्रेरित व्यवहारों के लिए गुन्जाइश कम होती है और ऐसी विचारधाराएँ तर्कसंगत नहीं लगती हैं। लेकिन इन संस्थागत संरचनाओं के अध्ययन करते रहने से 'व्यक्ति' और उसकी स्वतः स्फूर्ति की उपेक्षा होती रही है। और उसकी चेतना का अध्ययन तो यह

आन्दोलन करता है, मगर एकांगी होकर रह गया है। अत्यन्त साधारण सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। किसी हद तक, वस्तुपरक यथार्थ की उपेक्षा करता है।

प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद का बीजारोपण मीड के सिद्धान्तों में मिलता है। मीड के शिष्यों ने, जिनमें बिल्युमर और कूहन विशेष हैं, इस परम्परा को आगे बढ़ाया है। इनका योगदान दो दिशाओं में विशेष है। समाज की अवधारणा को कुछ और गहरा बनाया गया है, और कार्यविधिकी का निर्माण किया गया है। शिकागो स्कूल (बिल्युमर) आयवा स्कूल (कूहन) के दृष्टि-प्रारूप में भिन्नता के साथ-साथ, समरूपता भी है। मानव स्वभाव, सामाजिक संगठन, कार्यविधिकी आदि के सन्दर्भों में, दोनों स्कूल, अपनी भिन्नता के साथ, कहीं-कहीं समरूप भी होते हैं।

मनुष्य का स्वभाव (nature of humans)

बिल्युमर और कूहन दोनों ही मानते हैं कि मनुष्य में प्रतीक सृजन और प्रतीकों को प्रयोग करने की क्षमता है। अभी तक जितने प्राणियों के विषय में जानकारी हैं, उनमें मनुष्य के अतिरिक्त किसी दूसरे प्राणी में प्रतीक सृजन और प्रतीक प्रयोग की क्षमता नहीं है। मनुष्य की इसी क्षमता के आधार पर, सुजाना लेजर ने मनुष्य और गैर-मनुष्य (man and non-man) में, अन्तर किया है। एक व्यवस्थित भाषा केवल मनुष्य के पास है। भाषा, धर्म, कला, संगीत सभी प्रतीकात्मक सृजन हैं और केवल मानव जाति की थाती हैं। मनुष्य ही चिन्तन, कल्पना, फन्तासी और आत्मचिन्तन कर सकता है। प्रतीका का आदान-प्रदान या सम्प्रेषण (communication) मानव समाज का विशेष गुण है। हाव-भाव, संकेतों, बोली, भाषा आदि द्वारा किये जानेवाले सम्प्रेषण की विशेषता यह है कि उनका अर्थबोध (common meaning) समान होता है। एक ही संस्कृति में पले हुए लोग प्रतीकों का समान अर्थ लगाते हैं। हाथ जोड़कर नमस्कार करने का भारतीय संस्कृति में एक ही अर्थ है। भारतीय संस्कृति से परिचित लोग उसका दूसरा अर्थ नहीं लगावेंगे। प्रतीकों के समान अर्थबोध के कारण ही सामाजिक सम्बन्धों में स्थिरता आती है। लोग प्रतीकों (समान अर्थबोध) के साझीदार होते हैं, और यहीं से, सामान्य उद्देश्य, सामाजिक संगठन, संरचना और सामूहिक जीवन का विस्तार होता है।

बिल्युमर का मत है कि मनुष्य सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों का दास नहीं है। वह नयी स्थिति का सृजन कर सकता है। बिल्युमर समाज में एकरूपता नहीं मानता। वह केवल तात्कालिक स्थिति (situation) को मानता

है। स्थिति को व्यक्ति जैसी परिभाषा करता है, उसी के अनुसार, व्यवहार करता है। प्रतीक सृजन के गुण के कारण, व्यक्ति चाहे तो दी हुई स्थिति की परिभाषा बदल सकता है, और अपना व्यवहार भी बदल सकता है। अगर बात स्पष्ट न हो तो उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है। परिवार पर आर्थिक रूप से निर्भर एक नवयुवक अन्तर्जातीय विवाह करना चाहता है। माँ-बाप राजी नहीं हैं। स्थिति की परिभाषा यह है कि युवक व युवती दोनों विवश हैं और जान देने के लिए चल पड़े हैं। एकाएक युवक उस स्थिति में एक नयी वस्तु जोड़ता है और स्थिति की परिभाषा बदल जाती है। अगर वह आल इण्डिया सर्विसेज़ की प्रतियोगिता में सफल होकर, ऊँचा पद और वेतन प्राप्त कर लेता है, और वर्तमान निवासस्थान को छोड़कर, दूसरी जगह पोस्ट हो जाता है तो, विवाह सरलता से सम्भव हो जायगा। वह निश्चित करता है 'हमें रुकना चाहिए और प्रयास करना चाहिए।' वैसा ही होता है। वह जातिगत संरचना में बँध कर व्यवहार नहीं करता। स्थिति को नयी परिभाषा देता है और तुरन्त व्यवहार बदल देता है। बिल्युमर के अनुसार व्यक्ति का व्यवहार स्वतः प्रेरित होता है। दी हुई स्थिति में, व्यक्ति कल्पना द्वारा अपने को वस्तु के समान रखकर, दूसरी वस्तुओं को कल्पना जगत् में लाकर, स्थिति की परिभाषा बदल देता है। बिल्युमर की स्थापना है कि व्यक्ति का व्यवहार अनिर्धारित (inderminate) और स्वतः प्रेरित (spontaneous) होता है।

इसके विपरीत कूहन व्यक्ति के व्यवहारों को इतना लचीला और तरल नहीं मानता है। वह व्यक्ति के आन्तरतम में एक मूल स्व (core self) का अस्तित्व मानता है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति के अन्दर स्थिर अर्थबोध और स्थिर अभिव्यक्तियों का जो विकास होता है वह व्यक्ति का मूल स्व या मूल अस्तित्व है। स्थिति की परिभाषा, मूल स्व ने जो कुछ सीखा है, उसी के अनुसार होती है। इसी कारण स्थिति की परिभाषा और व्यक्ति के व्यवहार, दोनों में, स्थिरता होती है। व्यक्ति के व्यवहार के बारे में पूर्वानुमान (predictable) लगाया जा सकता है। अपने और दूसरों के बारे में, व्यक्ति एक निश्चित राय या दृष्टिकोण रखता है। मूल-स्व (की अभिवृत्तियाँ) वह लंगर है, जिसमें बँध कर, स्थिति की परिभाषा स्थिर और निश्चित होती है।

बिल्युमर और कूहन स्वतः प्रेरणा के प्रश्न पर भिन्न मत रखते हुए भी इस बात पर समरूप हैं कि व्यक्ति स्थिति को परिभाषा करता है। स्थिति की परिभाषा करते हुए, वह जैसे अन्य वस्तुओं को कल्पना जगत् में लाता है, उसी प्रकार अपने स्व को भी एक 'वस्तु' के रूप में स्थिति में रखकर, स्थिति की परिभाषा करता है।

पारस्परिक क्रिया की विशेषताएँ (nature of interaction)

भूमिका-ग्रहण से पारस्परिक क्रिया प्रारम्भ होती है। शिकागो स्कूल (बिल्युमर) की दृष्टि में 'स्व' और 'समाज' दोनों प्रक्रियात्मक (processual) हैं। उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। जबकि आयवा स्कूल (कूहन) के लिए स्व मूल स्व (core-self) और समाज दोनों ही संरचित (structural) हैं। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति को क्या करना है और 'क्या नहीं करना है' सिखाया जाता है। अतः उसका स्व संरचित होता है। कूहन के अनुसार स्व समाज के नियमों को आत्मसात् कर लेने के बाद, अधिक स्वतन्त्र नहीं रह जाता, जबकि बिल्युमर के अनुसार स्व की स्वतन्त्रता और स्वतः प्रेरणा को सामाजिक नियमों के घेरे में नहीं बाँधा जा सकता। सामाजिक नियम और मान्यताएँ सन्दर्भ (frame) का निर्माण अवश्य करती हैं लेकिन व्यक्ति की स्वतः प्रेरणा पर अंकुश नहीं लगाती हैं।

बिल्युमर पारस्परिक क्रिया के दो स्तर स्वीकार करता है। पहला स्तर प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रिया (symbolic interaction) और दूसरा स्तर गैर प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रिया का (non-symbolic interaction) है। पहले स्तर पर संकेतों का सम्प्रेषण होता है और व्यक्ति की स्वतः प्रेरणा पर रोक-टोक नहीं है। यह स्तर शुद्ध मानवीय है। लेकिन दूसरे स्तर पर एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के संकेतों को, प्रकट रूप से जाने बिना ही प्रतिक्रिया करता है। जैसे, एक कमरे में दो व्यक्ति चुपचाप बैठे हैं और किसी प्रकार के संकेतों का आदान-प्रदान नहीं कर रहे हैं। फिर भी वे एक दूसरे को मात्र अपनी उपस्थिति से बेचैनी महसूस कराते हैं। यह गैर-प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रिया का उदाहरण है। आयवा स्कूल इस प्रकार की पारस्परिकता पर ध्यान नहीं देता। मगर गैर-प्रतीकात्मक स्तर की प्रतिक्रिया पर दोनों ही स्कूलों ने विशेष अनुसन्धान नहीं किया है। बिल्युमर का कहना है कि संकेतों के आदान-प्रदान के अभाव में या अर्थबोध की साझीदारी के बिना भी, पारस्परिक क्रिया होती है। जो भी हो, यह अन्तर महत्त्वपूर्ण नहीं है।

शिकागो स्कूल के अनुसार पारस्परिक क्रिया की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. पारस्परिक क्रिया की स्थिति में प्रतीकात्मक रूप से व्यक्ति अपने 'स्व' को वस्तु के समान रखता है। दूसरे व्यक्ति के संकेत भी, वस्तु के समान, स्थिति के बीच लाये जाते हैं।

2. सामाजिक नियम, प्रतिमान, मूल्य आदि प्रत्याशाएँ, वस्तु के समान, स्थिति के बीच, प्रतीकात्मक रूप से लायी जाती हैं।

3. मनुष्य में प्रतीक सृजन की क्षमता है इसलिए, वस्तु के रूप में, कोई भी प्रतीक स्थिति के बीच वह ला सकता है।

(क) पारस्परिकता की स्थिति में जो वस्तुएँ होती हैं, उनके प्रति प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग धारणाएँ होती हैं, और अपनी धारणा के अनुसार, वह व्यवहार करता है। अतः अगर यह जानना हो कि किसी स्थिति में व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का व्यवहार कैसा होगा तो, यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु का प्रतीकात्मक अर्थ, वे क्या लगाते हैं। अगर व्यक्ति (या समूह) की प्रतीकात्मक डिजाइन को आप समझते हैं तो उनके व्यवहार का अनुमान भी लगा सकते हैं।

(ख) वस्तुओं के अर्थबोध और उनके प्रति होनेवाली प्रतिक्रिया के आधार पर स्थिति की परिभाषा होती है। इस परिभाषा की सामान्य परिधि (a general frame of refernce) में आचरण के परिणामों का मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रक्रिया को मानचित्रण (mapping) कहते हैं।

(ग) दी हुई स्थिति में व्यक्ति अपने आचरण को कैसे निर्धारित करता है ? इस जटिल प्रक्रिया में व्यक्ति निम्नलिखित तथ्यों का मूल्यांकन करता है :

(अ) तत्काल उपस्थित दूसरे लोग क्या चाहते हैं, या किन बातों की माँग करते हैं।

(ब) जो लोग वहाँ तत्काल उपस्थित नहीं हैं, उनकी भूमिका क्या होगी तथा उनकी भूमिका का वर्तमान कर्ता पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

(स) दी हुई स्थिति से कौन सी नैतिक समस्याएँ जुड़ी हुई हैं।

(द) दी हुई स्थिति के बीच, अगर प्रतीकात्मक रूप से, कोई नयी वस्तु लायी जाय तो परिणाम क्या निकलेगा।

(घ) दी हुई स्थिति की एक बार परिभाषा हो जाने के बाद, व्यक्ति व्यवहार करना प्रारम्भ करता है। इसे व्यवहारों का उत्सर्जन (emit) या प्रस्फुटित होना कहते हैं। व्यवहारों के उत्सर्जन से स्थिति की पुनर्परिभाषा होती है, उसमें नयी वस्तुएँ जुटती और पुरानी वस्तुएँ हटती जाती हैं। इस प्रकार पारस्परिक क्रिया चलती रहती है।

इन सारी बातों का सारांश यह है कि व्यक्ति वस्तुओं का अर्थ लगाता है। उनका मूल्यांकन करता है, जो वस्तुएँ दी हुई स्थिति में अनुपस्थित हैं, उनका भी अनुमान लगाता है। नैतिक प्रश्नों पर ध्यान देता है, और इस तरह, पूरी स्थिति

की परिभाषा करते हुए, व्यक्ति अपने आचरण का विकल्प चुनता है। स्थिति की बार-बार परिभाषा होती रहती है। वस्तुओं में परिवर्तन, उनके अर्थबोध में परिवर्तन होता रहता है, और इसी प्रकार पारस्परिक क्रिया का क्रम चलता रहता है।

बिल्युमर का तर्क यह है कि सामाजिक संरचना अन्तिम जकड़न नहीं होती। सामाजिक संरचना व्यक्ति को बाध्य या विवश नहीं करती है। व्यक्ति अपने अर्थबोध लगाने और आचरण का विकल्प चुनने के लिए स्वतन्त्र एवं स्वतः प्रेरित होता है। जिसे हम समाज की संरचना कहते हैं वह मात्र सामान्य पृष्ठभूमि है। व्यक्ति के लिए 'सामाजिक बेड़ी' या सामाजिक निर्धारणवाद को बिल्युमर स्वीकार नहीं करता।

बिल्युमर के दृष्टिकोण से ऐसा लगता है कि व्यक्ति समाज की जकड़ से मुक्त हो गया है। समाज दीवार की तरह नहीं बल्कि तालाब के स्थिर पानी के समान तरल है। व्यक्ति तैर कर जिधर चाहे जा सकता है। व्यक्तिगत स्तर पर, परिवर्तन, सृजनशीलता और स्वतः प्रेरणा की सम्भावनाएँ खुल जाती हैं। बिल्युमर के प्रतीकात्मक क्रियावाद से तो जैसे स्वतन्त्रता के द्वार खुल जाते हैं।

लेकिन कूहन समाज को इतना तरल और व्यक्तियों को इतना स्वतन्त्र नहीं मानता। सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति का मूलस्व (core-self) निर्मित होता, और सामूहिक जीवन के संदर्भ, व्यक्ति पर रोक भी लगाती है। मूल स्व की निजी मान्यताएँ और दूसरों की भूमिकाओं से व्यक्ति का आचरण प्रभावित ही नहीं बल्कि बँधता भी है। बिल्युमर के अनुसार व्यक्ति का आचरण उत्सर्जन (प्रस्फुटन) है। मगर कूहन के अनुसार व्यक्ति का आचरण, उतनी मात्रा में स्वतन्त्र या स्वतः प्रेरित है, जितनी मात्रा में, दूसरों के दबाव के बावजूद, सम्भव है। अतः कूहन के लिए व्यक्ति का आचरण, एक प्रकार की निर्मुक्त करने की (release) अथवा 'छोड़ने' की प्रक्रिया है जो कि एकाएक फट पड़ने से कुछ भिन्न है। बिल्युमर के अनुसार, व्यक्ति का आचरण ज्वालामुखी के समान स्वतः प्रेरित है। कूहन के अनुसार, व्यक्ति का आचरण, सामूहिक जीवन की सीमाओं से घिरे हुए, नहर के पानी के समान है, जितना सम्भव हुआ छोड़ दिया, शेष नियन्त्रित है। बिल्युमर के लिए व्यक्ति 'सृजनशील' है। कूहन के लिए व्यक्ति 'नियन्त्रित' है। स्थित में, अपने मूल स्व व दूसरों के द्वारा बँधा हुआ होते हुए, पारस्परिकता की रचना एवं पुनर्रचना करने के लिए सृजनशील है। पारस्परिक क्रिया की विशेषताओं की विवेचना के बाद, यह तर्कसंगत होगा कि इन स्कूलों की सामाजिक संगठन की अवधारणा की विवेचना प्रेषित की जाये।

सामाजिक संगठन

लोग पारस्परिक क्रिया करते हुए कहीं आपस में जुड़ते भी हैं। सामाजिक संगठन और सामाजिक संरचना को, प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावादी, समान समझते हैं। दूकानदार की कुछ प्रत्याशाएँ खरीददार से हैं। और उसी तरह, खरीददार की दूकानदार से हैं। दोनों इन्हीं प्रत्याशाओं के अनुसार पारस्परिक क्रिया करते हैं, बस संरचना उभर जाती है। यह संरचना, जो उभरी है, एक अलग तथ्य है। उन दो व्यक्तियों से पृथक् भी नहीं, और उनके अन्दर भी नहीं। संरचना (संगठन) पारस्परिकता का गुण है। जैसे आग का गुण गर्मी है। गर्मी आग नहीं है, मगर उससे पृथक् भी नहीं है। संगठन (संरचना) व्यक्ति नहीं है। लेकिन व्यक्ति से पृथक् भी नहीं है। अगर इस अवधारणा से भारतीय जाति को देखा जाये तो पता चलेगा कि जाति प्रतीक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। व्यक्ति से जातिगत अर्थबोध हटा दिया जाय, वह शुद्ध व्यक्ति हो जायेगा। जातिगत अर्थबोध (प्रत्याशाओं) के अनुसार पारस्परिक क्रिया करने पर वही व्यक्ति 'जाति' हो जायेगा।

बिल्युमर का कथन है कि संगठन मात्र एक 'प्रक्रिया' है। कूहन का विचार है कि संगठन 'कुछ' स्थायी संरचना है। एक बार जब 'संरचना' बन जाती है तो लोग उसे स्वीकार करते हुए व्यवहार करते हैं।

अनुसंधान विधि और सिद्धान्त

प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद के अनुसार अनुसंधान के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। पहला, स्व की रचना। दूसरा, स्थिति की परिभाषा, व्यक्ति (स्व) कैसे करता है, और अपनी परिभाषा के अनुसार, कार्य करने का निर्णय कैसे लेता है। बिल्युमर के अनुसार अवलोकन विधि और असंरचित साक्षात्कार विधि, सामाजिक अनुसंधान में उपयोगी होगी। सामाजिक यथार्थ को नये-नये अवधारणाओं से समझने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए।

बिल्युमर सामाजिक कारणता को नहीं मानता। अतः कारण-कार्य के कारकों (causation) को भी महत्त्व नहीं देता। हमारे अनुसंधान कार्यों में इस प्रकार के कारकों का उपयोग किया जाता है, जैसे, आमदनी या उम्र का घटना-बढ़ना। उनके सहसम्बन्ध से अमुक अन्तर दिखाया जाता है। बिल्युमर के अनुसार, मानव-व्यक्ति के सम्बन्ध में, इस तरह के कारण-कार्य नहीं होते। अनेक कारकों द्वारा कार्य रचा नहीं जाता है, बल्कि कार्य का, व्यक्ति स्वयं चयन करता है। अतः इस चयन प्रक्रिया का अध्ययन करना चाहिए। इसका अर्थ है, स्थिति की परिभाषा और अर्थबोध का अध्ययन करना चाहिए।

कूहन कारणता को स्वीकार करता है और मानता है कि 'स्व' में परिवर्त्य होते हैं। अतः उसने 'स्व' को नापने का एक प्रसिद्ध परीक्षण (twenty-statement test–TST) निकाला है। 'आप कौन हैं ?' आपका मूल स्व जैसा होगा, आपके व्यवहार भी वैसे ही होंगे। सामाजिक कारणों को न मानने, या मात्र 'स्व' में कारण निहित मानने से, शिकागो और आयवा स्कूल वालों की कड़ी आलोचना हुई है।

प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद कोई सिद्धान्त नहीं है। व्यक्ति के स्वभाव, पारस्परिकता, सामाजिक संरचना आदि अवधारणाओं के प्रति, एक विशेष दृष्टि-प्रारूप का नाम, प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद है। इस दृष्टिप्रारूप के अनुसार पारस्परिकता में जो कुछ सामान्य है, सिद्धान्त निर्माण का प्रयास, उसी सामान्यता के आधार पर होगा।

प्रतीकात्मक पारस्परिक-क्रियावाद की समालोचना

समाज की संरचना-प्रकार्य के विषय में जो धुंध छाया हुआ है, उसकी सफाई तो प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद से होती है, मगर हाथ कुछ लगता नहीं। यहाँ तक व्यक्ति से बाहर ठोस कारक सामाजिक जीवन को कैसे प्रभावित करते हैं, इसका ज्ञान तो दर-किनार, प्रतीकात्मक क्रियावादी इन्हें स्वीकार तक नहीं करते हैं। उनके लिए न इतिहास है, न राजनीति है, न अर्थनीति है। उनकी दुनिया में 'स्व' के अलावा, कुछ है ही नहीं। सामाजिक जगत् मात्र मनोविज्ञान नहीं है। प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद की आलोचना को दो कोटियों में रखा जाता है। **पहली**, जब अपनी आलोचना वे स्वयं करते हैं। **दूसरी**, जब उनकी आलोचना दूसरे करते हैं। इसे 'खेमे के अन्दर' की आलोचना और 'खेमे के बाहर' की आलोचना भी कहते हैं।

खेमे के अन्दर की आलोचना ब्रिटन (Brittan) ने इस प्रकार की है :

1. प्रतीकात्मक क्रियावाद आत्मचेतना को इतना अधिक महत्त्व देता है कि अचेतन मन को मामूली स्थान देता है। जबकि चेतन और अचेतन मन के दोनों स्तर व्यवहारों को प्रभावित करते हैं।

2. मनुष्य की आवश्यकताओं, इच्छाओं और अभिप्रेरणाओं को महत्त्व नहीं दिया गया है। केवल स्थिति की परिभाषा को प्रधानता दी गयी है।

3. प्रतीकात्मक क्रियावादी अर्थबोध से मनोग्रस्त हैं। समाज को, अर्थबोध या प्रतीकों का खेल-तमाशा मानते हैं। सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन को अत्यन्त हल्केपन से समझते हैं।

4. स्थिति की परिभाषा से मनोग्रस्ति होने के कारण, अस्थायी, अस्थिर और मात्र प्रासंगिक तथ्यों को महत्त्वपूर्ण मान कर, अवलोकन करते हैं।

खेमे के बाहर वालों की आलोचना का सारांश मेल्टजर (Meltzar) ने दिया है :

1. सामाजिक समस्याओं के प्रसंग में, प्रतीकात्मक क्रियावाद ऐतिहासिक और आर्थिक पक्ष पर ध्यान नहीं देता। इतिहास और अर्थतन्त्र से उनका सरोकार ही नहीं है।

2. प्रतीकात्मक क्रियावाद सामाजिक संरचना और संगठन को अध्ययन का विषय ही नहीं मानता, उनकी अवधारणा को, दोषपूर्ण मानता है।

3. प्रतीकात्मक क्रियावाद की, सामूहिक सामाजिक जीवन की समझ, विकृत है। वह सिद्धान्त, कभी-न-कभी खतरनाक साबित हो सकता है, जो मनुष्य की चेतना को जानने और उलटने-पुलटने की कोशिश करता है। स्थिति की परिभाषा और अर्थबोध के प्रचार-प्रसार से यह सिद्धान्त, किसी दिन, सामाजिक नियन्त्रण का हथकण्डा बन सकता है।

अगर दोनों खेमों की आलोचना को गम्भीरता से लिया जाये तो प्रतीकात्मक क्रियावाद की मूल स्थापनाएँ खण्डित हो जाती हैं, और सामाजिक जगत् को देखने का एक सीमित दृष्टिकोण बन कर रह जाती हैं। इतिहास, राजनीति, अर्थतन्त्र, टेकनॉलाजी आदि, चेतना से बाहर ठोस तथ्यों को जो दृष्टिकोण नजर-अन्दाज करता है, वह प्रखर सामाजिक दृष्टिकोण नहीं हो सकता। प्रतीकात्मक पारस्परिक क्रियावाद, कुल मिला कर, एक दुर्बल सिद्धान्त है।

REFERENCES

Blumer, Society as Symbolic Interaction in Rose (ed.) Human Behaviour and Social Processes, Boston, 1962.

Brittan, Meaning and Situation, London, 1962.

Kuhn, Major Trends in Symbolic Interaction Theory in Past Twenty-five years, Sociological Inquiry, 45 (winter) 1976.

Lee, Georg, Herbert Mead; Philosopher of the Social Individual, New York, 1945.

Meltzar (ed.) Symbolic Interaction : A Reader in Social Psychology, Boston.

—et. al., Symbolic Interactionism, London, 1975.

लोकविधिविज्ञान
(ETHNOMETHODOLOGY)

लोकविधिविज्ञान का अर्थ

'इथनोमेथोडोलॉजी' (लोकविधिविज्ञान) खोज की वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। 'मेथोडोलॉजी' (methodology) लग जाने से यह नहीं समझ जाना चाहिए कि यह कोई नयी कार्यविधि (method) या अनुसन्धान की नयी पद्धति है। वास्तविकता तो यह है कि इथनोमेथोडोलॉजी वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद का समर्थन नहीं करती। यह एक आन्दोलन है। सम्प्रति समाजविज्ञान में, लोकविधिविज्ञान एक विशेष स्कूल के रूप में विकसित हो रहा है। बड़ी तेजी से अनुसन्धान कार्यों का साहित्य बढ़ रहा है। कुछ विद्वान् लोकविधिविज्ञान को बहुत मामूली प्रकार की पद्धति बताते हैं। प्रकार्यवाद (functionalism) की सीमाओं से ऊबे हुए लोग लोकविधिविज्ञान को 'एक ताजी हवा' समझते हैं। हमारी समझ से समाजविज्ञान पर, दर्शन का आरोपण, इथनोमेथोडोलॉजी है। इस आन्दोलन की जड़ें जर्मनी के आधुनिक आदर्शवाद (idealism) में पायी जाती हैं। हुस्सर्ल (Husserl) के घटनाविज्ञान (phenomenology) का प्रभाव सम्प्रति कालीन समाज पर, कुछ ऐसा पड़ा है कि वे बाहरी जगत् की वास्तविकता को भूल कर, आत्मप्रधानता (subjectivism) की ओर मुड़ गये हैं।

इथनो (ethno) का अर्थ होता है–'लोक' या 'लोकज्ञान'। मेथोडोलॉजी (methodology) का यहाँ पर अर्थ, विषय-वस्तु (subject matter) है। इथनोमेथोडोलॉजी (ethnomethodology) का अर्थ है–'प्रतिदिन' के जन-जीवन का समाजविज्ञान। प्रतिदिन की घटनाओं को व्यवस्थित रूप से समझना इस पद्धति का उद्देश्य है। 'घटना' का महत्व उतना नहीं है जितना कि 'घटना' के अर्थ (meaning) का। अर्थबोध, व्यक्ति के संज्ञान का, परिणाम होता है। लोकविधिविज्ञान, व्यक्ति के आन्तरिक विचार-लोक में प्रवेश करना चाहता है। घटनाओं का अर्थ साधारणजन कैसे लगाते हैं ? अर्थबोध का संचार या आदान-प्रदान कैसे करते हैं ? इस विषय-वस्तु को लेकर, लोकविधिविज्ञान सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करता है। अर्थबोध के आदान-प्रदान (communication) का नियम अभी हम नहीं जानते हैं। अतः लोकविधिविज्ञान अर्थबोध के आदान-

प्रदान की विधियों का पता लगाना चाहता है। इन बातों से स्पष्ट है कि लोकविधिविज्ञान की समस्या अत्यन्त प्राचीन है। अर्थात् लोग ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं ? ज्ञान-मीमांसा की यह समस्या बड़ी प्राचीन है, और अभी तक उलझन बनी हुई है। इस उलझन के स्रोत दार्शनिक प्रवृत्तियों में पाये जाते हैं। लोकविधिविज्ञान वह पद्धति है जो व्यावहारिक तर्क (practical-reasoning) से सम्बन्धित है। अन्तराक्रिया में लोग घटनाओं का अर्थ लगाते हैं और उस अर्थबोध का आदान-प्रदान करते हैं, इसी प्रक्रिया का अध्ययन करना लोकविधि विज्ञान है। इस पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक अल्फ्रेड शूट्स (Alfred Shutz) और गार्फिकेल (Garfinkel) हैं। गार्फिकेल के नाम से ही इस पद्धति को जाना जाता है।

मोटे तौर पर ज्ञानमीमांसा की दो पद्धतियाँ हैं। एक तो वैज्ञानिक पद्धति है, जिसके अनुसार वस्तुगत तथ्यों पर ज्ञान की आधार-शिला रखी जाती है। साँप यदि रस्सी दिखाई पड़ता है, तब भी वह साँप ही रहेगा। तथ्य, तथ्य ही होते हैं, उन्हें व्यक्ति अपने विचार, भावना और इन्द्रियों की गड़बड़ी से, नकार नहीं सकता। वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त इस तरह के ज्ञान को प्रत्यक्षवाद (positivism) कहते हैं। किन्तु कोई व्यक्ति उस साँप को रस्सी समझकर अपने गले में डाल ले तो, क्रिया (action) या व्यवहार के प्रसंग में, उसका 'ऐसा समझना' या 'घटना का अर्थ लगाना' ही महत्त्वपूर्ण है। लोकविधिविज्ञान अर्थबोध को प्रधानता देता है। प्रतिदिन के जीवन में लोग घटनाओं का जैसा अर्थ लगाते हैं, वैसा ही व्यवहार करते हैं। अतः इस सीधी सी बात को अध्ययन का विषय बनाना चाहिए। सामाजिक अन्तराक्रिया (social interaction) की व्याख्या तब तक नहीं होती जबतक कि उस अर्थबोध का पता नहीं चलता, जिसके आधार पर व्यक्ति अन्तराक्रिया कर रहे हैं। गार्फिकेल का कहना है कि सामाजिक अन्तराक्रिया का अध्ययन तो समाजविज्ञान में होता है, परन्तु अन्तराक्रिया में व्याप्त अर्थबोध का अध्ययन नहीं होता है। जबतक अर्थबोध और उसके आदान-प्रदान को हम नहीं समझेंगे तबतक अन्तराक्रिया की व्याख्या अधूरी रहेगी। गार्फिकेल के इस कथन को स्पष्ट करने के लिए, हम भारतीय प्रसंग से, एक कल्पित उदाहरण प्रेषित करते हैं। एक पुरानी घटना है :

मान लें एक उच्च जाति का व्यक्ति उच्च अधिकारी है। वह अस्पृश्यता का पालन करता है। अस्पृश्य समझी जाने वाली जाति के लोगों से अपने शरीर को छुआना नहीं चाहता है। उसका मातहत अधिकारी एक तथाकथित अस्पृश्य जाति का है। अनौपचारिक बैठक में वार्तालाप इस प्रकार प्रारम्भ होता है :

मातहत अधिकारी–श्रीमान्, मैं कन्नौज से अत्यन्त मोहक सुगन्धवाला इत्र लाया हूँ, यदि आप आज्ञा दें तो अपनी उँगलियों से आपके वस्त्र पर जरा सा लगा दूँ।

उच्च अधिकारी–नहीं भाई, मुझे इससे एलर्जी है। लगाने से मुझे जुकाम हो जायेगा।

मातहत अधिकारी निराश होकर बैठ जाता है।

इस अन्तराक्रिया की एक व्याख्या तो यह हो सकती है, कि एक व्यक्ति ने, दूसरे व्यक्ति से, निवेदन किया और दूसरे व्यक्ति ने अपनी विवशता प्रगट की। परन्तु इस अन्तराक्रिया का वास्तविक भेद तभी खुलता है जब हम यह जान जायें कि, अस्पृश्यता बोध (अवधि) के कारण, यह अन्तराक्रिया इस प्रकार की हुई। हरिजन अधिकारी का अर्थबोध अपने उच्च अधिकारी को प्रसन्न करता है। उच्च अधिकारी का अर्थबोध अपने को पवित्र रखना है। जब इन बातों का रहस्य खुलता है तभी अन्तराक्रिया की वास्तविक व्याख्या होती है। प्रतिदिन के जीवन में ऐसी घटनाएँ घटा करती हैं। लोकविधिविज्ञान, अन्तराक्रिया के पीछे, अर्थबोध का पता लगाना चाहता है। अर्थबोध आत्मप्रधान (subjective) होता है। अतः अर्थबोध का पता लगाने की विधि (methodology) भी विशेष प्रकार की होगी।

घटनाविज्ञान, प्रतीकात्मक अन्तराक्रियावाद और लोकविधिविज्ञान (phenomenology, symbolic interactionism and ethnomethodology)

इन तीनों पद्धतियों के उपागत में बहुत कुछ समानता है। घटना विज्ञान के अनुसार अर्थबोध के आन्तरिक पक्ष को वास्तविक रूप से देखा नहीं जा सकता। शेष दोनों पद्धतियों के अनुसार सामाजिक अन्तराक्रिया को वास्तविक रूप में देख कर उसके पीछे अर्थबोध की रचना (structure of meaning) का अन्दाजा (sense) लगाया जा सकता है। घटनाविज्ञान की चर्चा हम जानबूझ कर नहीं करना चाहते। इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किये बिना इसके बारे में विशेष कुछ कहना उचित नहीं होगा। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति की तात्कालिक चेतना पर वस्तुओं का बिम्ब पड़ता है। घटनाविज्ञान, वस्तु का अध्ययन न करके, केवल चेतना-बिम्ब का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, घटनाविज्ञान तार्किक प्रक्रियाओं के नियमों की स्थापना करता है। समाजविज्ञान के साधारण विद्यार्थी के लिए घटनाविज्ञान की बारीक बातों को जानने की आवश्यकता नहीं है। जानना तो केवल इतना है कि तात्कालिक चेतना

इसके अध्ययन की विषय-वस्तु है। व्यक्ति की तात्कालिक चेतना ही अर्थबोध, प्रतीक एवं तर्कबोध का स्रोत है। घटनाविज्ञान की इस अवधारणा से लोकविधि-विज्ञान को प्रेरणा मिली है। गार्फिंकेल इथनोमेथोडोलॉजी को अब घटनावैज्ञानिक समाजविज्ञान (phenomenological sociology) कहना चाहता है। हाल में उसने वक्तव्य दिया है कि इथनोमेथोडोलॉजी को नव्य-व्यवहारवाद (neo-praxiology) की संज्ञा भी दी जा सकती है।

प्रतीकात्मक अन्तराक्रिया के अनुसार, व्यक्ति विश्लेषण की इकाई है। जबकि लोकविधिविज्ञान के अनुसार, अन्तराक्रिया (interaction) विश्लेषण की इकाई है। इस साधारण अन्तर को छोड़ कर, दोनों में बहुत समानता है। जिन प्रतीकों और अर्थबोधों को समूह के सभी लोग स्वीकारते और समझते हैं, उन्हीं से सामाजिक संरचना बनती है। अन्तराक्रिया की कुछ मान्यताएँ निम्नलिखित हैं। दोनों पद्धतियों को ये मान्यताएँ स्वीकार हैं।

1. मनुष्य में यह क्षमता है कि वह अपने ही विचारों और क्रियाओं का विश्लेषण कर सके।

2. परम्परा, रीति-रिवाज और कर्मकाण्ड, अर्थबोध और प्रतीकात्मक घटनाओं के कुछ उदाहरण हैं। इनके अर्थ को सभी लोग समान रूप से स्वीकारते हुए व्यवहार करते हैं। प्रतीक और अर्थबोध पर सहमति हो जाने के बाद, प्रतिदिन का जीवन उनके अनुसार चलता रहता है।

3. अर्थ (meaning) वस्तुओं में नहीं होता। मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण वस्तुओं को अर्थ प्रदान करता है। जैसे झंडा मात्र एक कपड़ा है। झंडे पर अर्थबोध की स्थापना मनुष्य अपनी बुद्धि और कल्पना से करता है।

4. अन्तराक्रिया का प्रभाव व्यक्ति के स्व (self) पर पड़ता है। सामाजिक स्थिति (संरचना) में व्यक्ति अपने आप को, जहाज के समान लंगर डाल कर, स्थिर कर लेता है। जैसे व्यक्ति परिवार में अपना लंगर डाल देता है। इस प्रक्रिया को स्वस्थिरता (self-lodging) कहते हैं। प्रतिदिन के जीवन में हम अपने आप को कहीं-न-कहीं स्थिर करते रहते हैं। जिस सामाजिक रचना में व्यक्ति का लंगर फँसा रहता है, वहाँ वह बार-बार लौटता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति बार-बार एक ही प्रकार की अन्तराक्रिया करता है।

5. जब बहुत से लोग एक ही प्रकार के अर्थ बोध को ग्रहण करते हैं तो संयुक्त-क्रिया (joint-action) उत्पन्न होती है। संयुक्त-क्रिया घटती और बढ़ती रहती है। इसलिए संयुक्त क्रिया परिवर्त्य (variable) के समान होती है।

प्रतीकात्मक अन्तराक्रिया की उपरोक्त प्रतिस्थापनाएँ लोकविधिविज्ञान की प्रतिस्थापनाओं के अति निकट हैं। सामाजिक अन्तराक्रिया में निहित अर्थबोध को समझना लोकविधिविज्ञान का उद्देश्य है। इस खोज का सम्बन्ध कर्ता के आन्तरिक पक्ष (internal state) से है। इसके दो अंग हैं—(अ) कर्ता की स्थिति, (ब) कर्ता के लिए स्थिति का अर्थ (meaning)। यदि प्रतिदिन के जीवन में इन बातों का विश्लेषण करना है तो भाषा (language) और संचार (communication) का अध्ययन करना अनिवार्य है। घूमफिर कर लोकविधिविज्ञान प्रतीक, भाषा और अर्थबोध ऐसी अवधारणाओं के निकट आता है। व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष पर व्यवहारवादी (behaviourist) विशेष बल नहीं देते हैं। लोकविधिविज्ञान, प्रतिदिन के जीवन को (every day life) वैज्ञानिक अन्वेषण से अलग रखना चाहता है।

लोकविधिविज्ञान की स्थापनाएँ
(assumptions of ethnomethodology)

प्रतिदिन के जीवन की व्याख्या करने के लिए कुछ घटनाओं को मानकर (taken for granted) चलना पड़ता है। जैसे, प्रतिदिन की कोई घटना दी हुई (given) है जिसका विश्लेषण करना है। उस घटना के कुछ तथ्य ऐसे होंगे जिनको मानकर विश्लेषण करना होगा। यदि परिवार-स्थिति का उदाहरण लें तो, यह मानकर चलना होगा कि पुत्र, पिता के साथ नौकर सा, व्यवहार नहीं करेगा। पुत्र के अहित का कार्य माँ नहीं करेगी। प्रतिदिन के जीवन के ऐसे तथ्य मान लिये (taken for granted) जाते हैं। इन तथ्यों का अर्थबोध स्थिर होता है। पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी के बीच अन्तराक्रिया के अर्थ-बोध (meaning) स्थिर (taken for granted) होते हैं। यदि इनमें कोई हेर-फेर आ जाये तो अन्तराक्रिया गड़बड़ा जाती है। पुत्र नशे में चूर होकर घर में बकझक करने लगे तो अन्तराक्रिया में असुविधा उत्पन्न होगी। इस आधार पर लोकविधिवैज्ञानिक स्थापना करते हैं कि अन्तराक्रिया का आधार अर्थ-बोध (meaning) है। यदि अन्तराक्रिया के स्वरूप में हेर-फेर हो जाये तो लोगों के मन में बैठे अर्थबोध से तालमेल नहीं खायेगा। अतः अन्तराक्रिया का केन्द्र-बिन्दु परस्पर स्वीकृत अर्थबोध है। लोकविधिविज्ञान की सैद्धान्तिक समस्या भी वही है जो अन्य समाज वैज्ञानिकों के सामने आज तक बनी हुई है।

सामाजिक व्यवस्था कैसे सम्भव होती है ?

इसका उत्तर लोकविधिवैज्ञानिक अपने ढंग से देते हैं। गार्फिकेल के अध्ययनों (1967) से इस बुनियादी प्रश्न का उत्तर मिलता है। कुछ अर्द्ध-प्रयोगात्मक

अध्ययनों (quasi-experimental field studies) के आधार पर गार्फिकेल ने लोकविधिविज्ञान की सैद्धान्तिक स्थापनाएँ की हैं। एक प्रयोग में छात्रों से यह कहा गया कि वे अपने परिवार की स्थिति में जाकर इस तरह व्यवहार करें कि जैसे वे किसी विश्रामालय या होटल में ग्राहक के रूप में व्यवहार करते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रतिदिन के जीवन के कुछ तथ्य मान लिये जाते हैं। बेटा घर पर चाय पीने या भोजन करने के बाद यह नहीं कहेगा कि 'भुगतान के लिए बिल ले आओ'। पिता को होटल का बेयरा समझकर आर्डर नहीं देगा। लेकिन अगर वह घर में पहुँच कर इसी प्रकार अन्तराक्रिया करने लगे तो पारिवारिक स्थिति में उथल-पुथल मच जायेगी। बहुत देर तक न तो बेटा माँ-बाप से होटल के नौकरों की तरह व्यवहार कर सकता है और न बहुत देर तक परिवार वाले उसके इस व्यवहार को सहन कर सकते हैं। प्रतिदिन के जीवन की अन्तराक्रिया में निहित अर्थबोध (meaning) के विपरीत व्यवहार करना अत्यन्त कठिन है।

एक दूसरे प्रसंग में, छात्रों से यह कहा गया कि दूकानों से समान खरीदते समय दूकानदार को, निर्धारित दाम से, या तो कम पैसा दें या अधिक पैसा दें। प्रतिदिन के जीवन में यह मानकर (taken for granted) चलते हैं कि ग्राहक निर्धारित दाम से कम या अधिक न देगा और न दूकानदार लेगा। परन्तु जब इसके विपरीत व्यवहार होने लगे तो प्रतिदिन की व्यवस्था में गड़बड़ी उत्पन्न होने लगेगी। प्रयोज्य छात्र, बहुत देर तक, इस प्रयोग के अनुसार व्यवहार नहीं कर सकते। इन प्रयोगों के आधार पर गार्फिकेल दो मुख्य निष्कर्ष निकालता है :

(अ) प्रतिदिन के जीवन (routine) में अन्तराक्रिया के नियमों को चुनौती देना या उनका उल्लंघन करना कठिन है।

(ब) व्यक्ति जिनसे अन्तराक्रिया करता है, उनमें उसका विश्वास होता है, और दूसरों का उसमें विश्वास होता है। गार्फिकेल इसे आस्था (trust) की अवधारणा से व्यक्त करता है।

अतः अन्तराक्रिया में जब तक आस्था (trust) की स्थिति बनी रहेगी तब तक सामाजिक व्यवस्था (social order) भी बनी रहेगी। आस्था में अन्तर आते ही सामाजिक व्यवस्था विचलित या विघटित होने लगेगी। इस अवधारणा के आधार पर गार्फिकेल विचलनकारी व्यवहार (deviant behaviour) की व्याख्या भी करता है। अन्य स्थापनाएँ इस प्रकार हैं :

1. समाज के सदस्य परस्पर अन्तराक्रिया करते समय नैतिक-व्यवस्था (moral order) को जानते हैं। यह उनका स्थिर-बिन्दु (fixedpoint) होता

है। नैतिक व्यवस्था के स्थिर-बिन्दु से, वे घटनाओं को दूर जाते या निकट आते देखते हैं।

2. अन्तराक्रिया समय के अन्तर्गत (temporal sequence) होती है। अन्तराक्रिया (encounter) को समय से पृथक् नहीं समझा जा सकता।

3. अन्तराक्रिया के समय स्थिति की जो व्याख्या की जाती है, वह तब तक नहीं बदलती है जब तक कि अन्तराक्रिया होती रहती है।

4. स्थिति की प्रत्येक वस्तु सार्थक (being) होती है। दो व्यक्ति यदि कमरे में बातचीत कर रहे हों तो, प्रकाश, खिड़की के पर्दे, और दीवार पर लगी तस्वीरों का भी अन्तराक्रिया के सन्दर्भ में अर्थ होता है।

5. एक अन्तराक्रिया के समय, वस्तुओं को दिया गया अर्थबोध, भविष्य में भी उसी समान बना रहता है।

6. अन्तराक्रिया में व्यक्ति अर्थ-बोध का आदान-प्रदान भाषा और प्रतीकों द्वारा करते हैं।

7. प्रत्येक व्यक्ति अपने अतीत के अनुभव और जीवनचरित्र (biography) के अनुसार स्थिति की परिभाषा करता है। संगठन-तोड़क कार्यों (negative challenges) से पता चलता है कि अन्तराक्रिया और संगठन के सामान्य स्वरूप क्या हैं। जब सामान्य जन-जीवन अस्त-व्यस्त होता है, या सम्बन्धों की किसी इकाई में व्यवधान उत्पन्न होता है तो, ज्ञात होता है कि साधारण जन, प्रतिदिन के जीवन में किन नियमों, संस्कारों और व्यवहारों के आदर्शों को सामान्य और वास्तविक मानते हैं।

व्याख्या की दस्तावेज़ी विधि (documentary method of analysis)

लोकविधिवैज्ञानिक व्याख्या की दस्तावेज़ी विधि को अपनाता है। इस विधि का उद्देश्य ज्ञात से अज्ञात की ओर चलता है। अर्थात् जो कुछ प्रगट, प्रत्यक्ष और विदित है, उसके पीछे अर्थबोध के स्वरूप (underlying patterns) क्या हैं ? अतः यदि निहित अर्थबोध का पता चल जाये तो होने वाले व्यवहार का पता चल जाता है। साधारण नियम है कि यदि अपराध के उद्देश्य का पता चल जाये तो अनेक बातों का रहस्य खुल जाता है। इसी प्रकार प्रगट व्यवहार में निहित अर्थबोध का पता चल जाता है।

निहित अर्थबोध का पता भाषा और संचार (language and communication) से होता है। कहा जाता है "जो समाज भाषा को वास्तविक वस्तु का स्रोत नहीं मानता, वह असफल होने के लिए अभिशप्त है।" 'ब्रिटिश भाषा-

दार्शनिक जे० एल० आस्टिन (J. L. Austin) का मत है कि 'कथनी' ही 'करनी' (utterance is doing) है। विवाह-मण्डप में जब वर संकल्प करता है 'मैं तुमको वैध विवाहिता पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ' तो यह कथन मात्र करना ही नहीं, वरन् वास्तविक व्यवहार (या करनी) का भी प्रतीक है। इस प्रकार की भाषा को कार्यरूप कथन (performative utterance) कहते हैं, और आम बातचीत की भाषा को बोल-चाल कथन (talk utterance) कहते हैं। इन दोनों में अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। कार्यरूप कथन से सामाजिक संरचना (social structure) का बोध होता है। दूसरे शब्दों में, कार्यरूप कथन सामाजिक संरचना की उत्पत्ति करते हैं। अतः रे टर्नर (Ray Turner) के अनुसार इस प्रकार की भाषा से यह पता चलता है कि समाजीकृत लोग सामाजिक संरचना कैसे बनाते हैं। उन संरचनाओं की पकड़ करना दस्तावेज़ी विधि का उद्देश्य है।

दस्तावेज़ी विधि के अनुसार अनुसंधानकारी जब किसी से साक्षात्कार करता है तो बातचीत के दौरान उत्तरदाता के केवल ऐसे वाक्यों को नोट करता है जिनमें किसी अर्थबोध, विचार या इरादे का निरूपण (formulation) होता है। इस प्रकार के एक संवाद का उदाहरण यहाँ दिया जाता है। जो वाक्य रेखांकित हैं, उन्हें निरूपण (formulation) समझना चाहिए।

साक्षात्कर्ता—श्रीमान् नमस्कार, कहिए दिन कैसे कट रहे हैं।

उत्तरदाता—बस किसी तरह कट रहे हैं (उत्तरदाता कुछ रुककर बोलता है)

सुबह होती है, शाम होती है।
उम्र यों ही तमाम होती है।

साक्षात्कर्ता—आप ऐसा क्यों सोचते हैं ?

उत्तरदाता—आजकल महँगाई है, बेरोजगारी है, और **कोई किसी को सुनने वाला नहीं है।**

साक्षात्कर्ता—आपके बच्चों का क्या हाल है ?

उत्तरदाता—यही सोचता हूँ कि इस संसार में दुःख ही दुःख है, **दूसरों को जन्म देकर मैंने अच्छा नहीं किया।**

साक्षात्कर्ता—क्या बात हो गयी। आप तो साधन-सम्पन्न और शक्तिशाली लोगों के सम्पर्क में हैं। आपको निराश होने की क्या आवश्यकता है।

उत्तरदाता—**किसी पर भरोसा करना कठिन है।**

इस संवाद के माध्यम से यह दिखलाया गया है कि प्रतिदिन के जीवन में लोग किस प्रकार अपने अनुभव और अर्थबोध का निरूपण करते हैं। उत्तरदाता के सभी निरूपण यह बोध कराते हैं कि वह दुनिया से निराश, क्षुब्ध और उदासीन है। ऐसे निरूपण उसके व्यवहारों की गूढ़ और सही व्याख्या करते हैं।

लोगों के हाव-भाव, भाव-भंगिमा से भी निहित अर्थबोध का पता चलता है। कभी-कभी खामोशी या वाक्यहीनता की स्थिति से बहुत कुछ प्रगट हो जाता है। जब बिछड़े हुए लोग आमने-सामने होते हैं तो उनकी जुबान बन्द हो जाती है। परन्तु इस प्रकार चुप रहना भी एक भाषा (silent speech) है। अमरीकी शोधकर्ता टेप-रिकार्ड द्वारा संवादों को रिकार्ड कर लेते हैं या घटनाओं को फिल्मा लेते हैं। बाद में उनका अध्ययन करके निहित अर्थबोधों का निरूपण (formulation) तैयार करते हैं। इस विधि को संकेतसूची (indexing) भी कहते हैं।

संगठन की अवधारणा (the concept of organisation)

गार्फिकेल की परिभाषा के अनुसार 'एक संगठन' 'सामाजिक सम्बन्धों का संगठन' है। यदि किसी संगठन के विचारों की रूपरेखा (set of ideas) का पता चल जाये तो यह भी पता चल सकता है कि उस संगठन के कार्य-व्यापार क्या हैं। अतः लोकविधिविज्ञान के अनुसार संगठन में व्याप्त अर्थबोध (या विचारों) की व्याख्या पहले करनी चाहिए, और उसके कार्यों की बाद में। कार्यों से भी विचारों का पता चल सकता है। संगठन को 'विचारों का संगठन' मानते हैं। ऐसा समझना कोई नई बात नहीं है। इतना अवश्य है कि अन्तर्निहित विचारों, उद्देश्यों और इसके इरादों को जान लेने से संगठन की पोल खुल जाती है। इस दृष्टिकोण से लोकविधिविज्ञान वामपंथी होने का भ्रम उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त की लोकप्रियता का रहस्य भी यही है।

गार्फिकेल, सिकोरल और डगलस आदि ने स्वास्थ्य-केन्द्रों, अस्पतालों, बाल-न्यायालयों और आत्महत्या रोकने वाले संगठनों का अध्ययन करके संगठन की व्याख्या के निम्नलिखित सूत्र बताये हैं :

1. सरहद जिसमें कार्य होते हैं।
2. व्यक्ति या सदस्य जो सरहद के अन्तर्गत रहते हैं।
3. उन सदस्यों का परस्पर सामाजिक सम्बन्ध किस प्रकार का है। अर्थात् यह पता लगाना कि किनमें मित्रता है, कितनों किनमें शत्रुता है, पद में कौन ऊँचा तथा कौन नीचा है।
4. क्रियाओं का विवरण।
5. सदस्य एक दूसरे से कितने निकट आकर कब और कहाँ सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

साधारण समाजमिति (sociometric relations) की अवधारणाओं को लोकविधिवैज्ञानिक संगठन के विश्लेषण में प्रयोग करते हैं। यद्यपि वे ऐसा स्वीकार नहीं करते। निष्कर्ष के रूप में संगठन के बारे में कहा गया है कि :

1. झूठा और बनावटी रिकार्ड तैयार करके संगठन अपने आप को जीवित रखता है। यह निष्कर्ष कुछ उसी तरह का है जैसे कागज पर स्कूलों की इमारतें, सड़क पर पुल, पागलखाना में मरीज आदि की संख्या दिखा दी जाती है, परन्तु वास्तव में वहाँ कुछ नहीं होता, या उपलब्धि की मात्रा प्रदर्शित करने वाले आँकड़ों की तुलना में वास्तविकता से कम होती है।

2. प्रत्येक संगठन घटनाओं का अर्थ अलग-अलग लगाता है। जैसे, जन्म-दर, मृत्युदर, मानसिक रोग, आदि का अर्थ, अलग-अलग संगठन अलग-अलग ढंग से लगाते हैं।

3. प्रत्येक संगठन अन्तराक्रिया के माध्यम से अपना रिकार्ड तैयार करता है। इसका अर्थ यह बताया गया है कि सुनी-सुनायी बातों, गप्प या अधपकी सूचनाओं पर संगठन अपना लेखा-जोखा तैयार कर लेता है। बात बड़ी रोचक है। बाल-अपराधियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। अदालतें बतलाती हैं कि मुकदमों की संख्या बढ़ गयी है। कुछ राजनैतिक दल किसी गाँव में अपने दल के सदस्यों की संख्या (पंजीकृत) पूरे गाँव की जनसंख्या से कहीं अधिक दिखा देते हैं। संगठन की इन अवधारणाओं के कारण, लोकविधिविज्ञान आधुनिक जीवन में संगठनों की रोचक आलोचना अवश्य करता है।

समालोचना

यदि प्रतिदिन का जीवन ही अध्ययन का विषय है तो लोकविधिविज्ञान में न इतिहास को स्थान है, न भविष्य को। केवल तत्काल (immediacy) ही महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार का सिद्धान्त, सामाजिक-परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकता, भविष्योन्मुख नहीं हो सकता और गम्भीरता से सामाजिक समस्याओं पर अध्ययन नहीं कर सकता। समाजविज्ञान को समाज के गहरे अध्ययन से विमुख करने का यह एक अच्छा प्रयास है।

अर्थबोध और उनके स्रोत को खोज निकालने में लोकविधिविज्ञान आत्मवादी (subjectivism) हो जाता है। सामाजिक गतिविधियों की व्याख्या केवल शब्दों, भाषा और प्रतीकों से करता है। सामाजिक-आर्थिक कारकों की उपेक्षा करता है। सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करने में सामाजिक और आर्थिक कारकों को स्थान न देना, कठोर वास्तविकता से दूर भागना है। लोकविधि-वैज्ञानिक सामाजिक-आर्थिक दशाओं का अध्ययन नहीं करता। इस आलोचना

के विरोध में लोकविधि वैज्ञानिकों का कहना है कि परम्परागत समाजविज्ञान ने जिस पक्ष को अभी तक नकारा है, वे उसी पक्ष का अध्ययन करते हैं। यह बात कुछ जमती नहीं। परम्परागत समाजविज्ञान की कमी बताते हुए लोकविधि-वैज्ञानिक जिन घटनाओं का अध्ययन करते हैं, वे अत्यन्त ही साधारण हैं। उदाहरणार्थ हम उनके अनुसंधान, चलने की कला (the art of walking) का उल्लेख करते हैं। व्यक्ति, चलने के माध्यम से, कैसे भाव-बोध प्रदर्शन करते हैं। इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया गया है कि आमने-सामने के लोग टकराने से (members avoid collision) अपने आप को बचाते हैं। इस साधारण सी बात को अनुसंधान द्वारा बताया गया है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि कौन, किसके साथ, किस तरह चलता है। अफसर के साथ मातहत किस तरह चलता है, प्रेमी के साथ प्रेमिका किस तरह चलती है। चलते समय शरीर का झुकाव, कदमों की दूरी, दूसरे व्यक्ति से दूरी या निकटता, आदि से पता चल जाता है कि इन साथ चलने वालों में किस प्रकार की अन्तरक्रिया हो रही है। प्रतिदिन की ऐसी घटनाओं की व्याख्या करके लोकविधि वैज्ञानिक अपने अनुसंधान की उपयोगिता सिद्ध करना चाहते हैं। आलोचना में हम कुछ और न कहकर टालस्टाय की एक कहानी के मोची पात्र का उदाहरण प्रेषित करते हैं:

मोची एक ऐसी नीची छाजन वाली दुकान में बैठता था, जहाँ से सड़क पर चलने वालों के केवल पैर और जूते दिखायी पड़ते थे। लोगों के पैर के जूतों के तलवों एवं एड़ियों की घिसावट देखते-देखते वह इतना अभ्यस्त हो गया था कि जूतों के तलवे की घिसावट को देखकर ही पहननेवाले के चरित्र को भाँप लेता था।

टालस्टाय का यह मोची न समाजवैज्ञानिक था, न अनुसंधानकर्ता। प्रतिदिन की जीवन की घटनाओं को वह केवल देखता रहता था।

REFERENCE

Garfinkel, Studies in Ethnomethodology, Englewood Cliffs, N. J. Prentice Hall, 1967.

D. Douglas., ed., Understanding Every day Life, Chicago : Aldine, 1967.

Roy Turner, ed., Ethnomethodology, Baltimore : Penguin, 1974.

Aaron V. Cicourel, Method and Measurement in Sociology, New York : Free Press, 1964.

अध्याय—11

कार्ल मैनहिम : ज्ञान का समाजविज्ञान
(KARL MANNEHEIM : SOCIOLOGY OF KNOWLEDGE)

ज्ञान के समाज विज्ञान का उद्‌देश्य

ज्ञान का समाजविज्ञान ज्ञान तथा अस्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करता है। कार्ल मैनहिम की पुस्तक 'आइडियोलाजी एण्ड उटोपिया' (Ideology and Utopia) का ज्ञान समाजविज्ञान में मुख्य योगदान है। मनुष्य के विचार शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न नहीं होते, बल्कि ऐतिहासिक परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी निश्चित सामाजिक परिस्थिति में स्थित होता है। उसके अनुसार ही उसके विचार होते हैं। व्यक्ति के विचार क्रियाशील होते हैं। मैनहिम ने बताया है कि ज्ञान के समाजविज्ञान में स्वार्थबद्ध चिन्तन की समस्या मुख्य है। भौतिक विज्ञान की वस्तु का सम्बन्ध स्वार्थों और मूल्यों से नहीं होता, परन्तु समाज विज्ञान की विषय वस्तु का सम्बन्ध स्वार्थों तथा मूल्यों से होता है। अतः मैनहिम ने स्वार्थों तथा मूल्यों के अध्ययन को ज्ञान के समाजविज्ञान की विषय-सामग्री मान लिया है।

व्यक्ति (या समूह) का चिन्तन स्वार्थबद्ध होता है। मैनहिम विचारों को 'वैचारिकी' तथा 'स्वप्नचिन्तन' के दो वर्गों में बाँटता है। वैचारिकी का सम्बन्ध वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थिति से होता है। वैचारिकी वर्तमान परिस्थिति को बनाये रखना चाहती है। उसका स्वार्थ परिवर्तन विरोधी होता है। इसके विपरीत स्वप्नचिन्तन में निहित स्वार्थ, वर्तमान से असन्तुष्ट होकर, उसे बदलना चाहता है। इन्हीं दो स्वार्थों के तनाव से सामाजिक परिवर्तन और चिन्तन में विकास उत्पन्न होता है।

ज्ञान का समाजविज्ञान सिद्धान्त रूप में ज्ञान तथा अस्तित्व के पारस्परिक संबंध का विवेचन करता है। ऐतिहासिक समाजवैज्ञानिक पद्धति के रूप में ज्ञान का समाज विज्ञान इन सम्बन्धों के उन रूपों की खोज करता है जिनका अस्तित्व मानव समाज के बौद्धिक विकास की प्रक्रिया में रहा है। अतः ज्ञान के समाज-विज्ञान का लक्ष्य विचार तथा क्रिया के सम्बन्ध निर्माण के लिए माप दण्डों की खोज करना है। मैनहिम का मत है कि ज्ञान का समाजविज्ञान ज्ञान के अस्ति-

त्ववादी दृढ़ निश्चय का नियम है। इस प्रकार ज्ञान को समाजविज्ञान, विचार तथा उसकी अभिव्यक्तियों के विविध रूपों का सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में, विश्लेषण करता है।

परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति का चिन्तन होता है। कार्ल मार्क्स का कहना है कि चेतना हमारी परिस्थिति को निर्धारित नहीं करती, बल्कि परिस्थिति विचारों को निर्धारित करती है। अतः यह आवश्यक है कि लोगों के विचारों की व्याख्या परिस्थिति के अनुसार की जाये, अर्थात् जो व्याख्या हो, वह नियोजित विकास तथा नियन्त्रण से सम्बन्धित हो। विचार सामूहिक क्रिया की ओर ले जाते हैं। समाजवैज्ञानिक व्याख्या द्वारा तीन प्रकार से बातें समझायी जा सकती हैं :

(अ) चिन्तन तथा ठोस सामाजिक स्थिति में सम्बन्ध होता है।

(ब) विचारक को विचार कार्यशील बनाता है।

(स) विचार किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति से बद्ध होता है।

प्रत्यक्षवादियों के अनुसार अनुभव यद्यपि विश्वसनीय है, किन्तु इसका विवेचन सामाजिक तथ्यों द्वारा प्रभावित होता है। यह विवेचन उस विचारधारा का निर्माण करता है जो कि शासक वर्ग के स्वार्थ की रक्षा के लिए वास्तविकता के ऊपर आवरण डाल देता है। अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्ष में चेतना का उपयोग होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व का प्रतिफल है।

मैनहिम ने ज्ञान की मार्क्सवादी तथा मार्क्स विरोधी अवधारणाओं में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। इस प्रकार मैनहिम ने मार्क्स के सैद्धान्तिक चिन्तन को स्वीकार कर, विचारधारा को सम्पूर्ण तथा विशिष्ट, दो रूप में विभक्त किया है। विशिष्ट विचार तब उत्पन्न होते हैं, जब विरोधी के मत को उसकी जीवन स्थिति द्वारा विकृत माना जाता है। सम्पूर्ण विचार किसी युग की विचारधारा को प्रकट करते हैं। सम्पूर्ण विचारधारा में विचार-प्रणालियों का विश्लेषण किसी युग विशेष के सन्दर्भ में किया जाता है।

व्यक्ति के विचारों की व्याख्या इसकी परिस्थितियों को जाने बिना नहीं की जा सकती। ज्ञान के समाजविज्ञान की मुख्य विषय-वस्तु यह है कि विचारों के सामाजिक आधार को जब तक पर्याप्तरूपेण नहीं समझा जाता तब तक वे स्पष्ट नहीं हो सकते। विचारों के प्रारूप को जानने के लिए उनके सामाजिक बाधाओं का ज्ञान आवश्यक है। व्यक्ति नहीं, समूह सोचता है। व्यक्ति केवल चिन्तन प्रक्रिया में योगदान देता है। व्यक्ति समूह में मिलजुल कर भी रहता है और लड़-झगड़ कर भी। ये दोनों कार्य वह संगठित रूप में करता है। अतः

व्यक्ति जो सोचता है, वह सहयोग और द्वन्द्व दोनों से सम्बन्धित होता है। व्यक्ति उन परिस्थितियों के अनुसार सोचता है, जो उसे विरासत में मिलती हैं। इसके दो अंग हैं :

(क) ऐतिहासिक और सामाजिक-वर्ग परिस्थितियाँ, और
(ख) विचारों के प्रतिमान।

किसी भी समूह में ये दो परिस्थितियाँ पहले से निश्चित होती हैं। व्यक्ति इन्हीं परिस्थितियों में सहयोग देकर चिन्तन करता है।

ज्ञान के समाज विज्ञान की एक समस्या यह भी है कि मनुष्य के चिन्तन की आधार शिला क्या है। व्यक्ति के विचारों का आधार उसकी सामाजिक पद स्थिति में होता है। वैचारिकी में व्यक्ति का चिन्तन परिस्थिति से बँधा रहता है। परन्तु स्वप्नचिन्तन (utopia) अतिक्रमण में विचार परिस्थिति मुक्त होता है।

बीसवीं शताब्दी में ज्ञान के समाजविज्ञान का संशोधित स्वरूप मैनहिम ने प्रस्तुत किया है। वर्तमान युग में समाज तीव्रता से बदल रहा है। शीर्ष तथा समानान्तर दोनों प्रकार की गतिशीलता आज हो रही है। आज बौद्धिक एका-धिकारवाद समाप्त हो गया है। हर वर्ग और हर व्यक्ति, चिन्तन प्रक्रिया में भाग ले सकता है। ऐसे समाज में कुछ भी पूर्ण तथा अन्तिम नहीं है, कोई भी ज्ञान अन्तिम नहीं है।

मैनहिम के मतानुसार ज्ञान का समाज विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है, जो उन तरीकों का अध्ययन करता है, जिनके द्वारा, सामाजिक कारक मानसिक उपलब्धियों को प्रभावित करते हैं। ज्ञान का समाजविज्ञान सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों से सम्बन्धित मानसिक उत्पत्तियों का अध्ययन करता है। ज्ञान के समाज विज्ञान का उद्देश्य यह प्रकट करना है कि व्यक्तियों के जीवन की योजना उनके सामाजिक समूहों की संरचना पर किस प्रकार निर्भर करती है। आर्थिक कारक विचारों की प्रकृति को, और विचारों के चुनाव को भी, प्रभावित करते हैं। चिन्तन की शैली, समूह की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति से प्रभावित होती है। यह भिन्न-भिन्न समूहों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है और, समूह में जन्म लेने वालों के चिन्तन को प्रभावित करती है। विचारों के 'प्रत्येक सम्पूर्ण' का विकास किसी समूह के चिन्तन की सीमा के भीतर होता है, और इस पर समूह की स्वीकृति आवश्यक होती है।

व्यक्ति स्वयं नहीं सोचता या केवल अकेले ही नहीं सोचता। वह दूसरों के चिन्तन धारा से प्रभावित होता है या तो वह इनमें परिवर्तन कर देता है, या

ज्यों-का-त्यों प्रयोग कर लेता है। दूसरों की स्थापनाओं को स्वीकार कर लेता है ताकि सामाजिक परिस्थितियों के नवीन विकास का वह सामना कर सके। कोई व्यक्ति किसी समूह का अंग इसलिए है कि उसके समूहों द्वारा स्थापित अर्थ-प्रणाली के प्रति वफादार है। समूह के विचार उसके अपने विचारों को निर्धारित करते हैं।

मैनहिम का विचार है कि ज्ञान का विकास सामूहिक जीवन का सामाजिक पक्ष है। अतः उसकी दृष्टि में यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। विशेषकर यह एक सहकारी प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक का ज्ञान सामान्य क्रियाओं के ढाँचे के भीतर ही विकसित होता है। ज्ञान का विकास सामूहिक क्रियाओं से होता है, इसलिए यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि इस ज्ञान का अधिकांश विकास 'सामूहिक अचेतन' में कैसे होता है। अतः ज्ञान के समाजविज्ञान के मुख्य प्रकार्यों में से एक प्रकार यह भी है कि वह तार्किक ज्ञान के अतार्किक मूलों की खोज करे और उसे प्रकाशित करे।

योरोपीय विद्वानों की दृष्टि में ज्ञान का ज्ञानात्मक पक्ष (cognitive apsect) महत्त्वपूर्ण है, जबकि अमेरिकी विद्वान् सूचनाओं पर बल देते हैं। ज्ञान का अर्थ है, तथ्यों या विचारों का समूह। जबकि सूचनाओं में इस प्रकार के क्रमागत तथा अर्न्तसम्बन्धित तथ्यों या विचारों के प्रयोग नहीं आते। मर्टन का कहना है कि अमरीकी झुकाव यत्र-तत्र बिखरी सूचनाओं की ओर है, जबकि योरोपीय झुकाव सिद्धान्तों की क्रमबद्धता पर है।

विचारों का विश्लेषण करने के लिए मैनहिम ने राजनैतिक विचारों को विषय-वस्तु मानकर वैचारिकी और स्वप्नचिन्तन को चुना है। परिस्थितियों से बद्ध चिन्तन को वैचारिकी कहा जाता है। इसका उद्देश्य वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों को स्थिर रखने से होता है। किसी वैचारिकी के समर्थक अपनी स्थिति को सबल बनाये रखने के लिए ऐसे प्रतिमान उपस्थित्त करते हैं, जिनसे परिवर्तन न हो। जैसी परिस्थिति हो, वैसी ही बनाये रखना वैचारिकी का स्वार्थपूर्ण उद्देश्य होता है। जो लोग नयी परिस्थिति लाना चाहते हैं, उनके विचारों को स्वप्नचिन्तन कहते हैं। वैचारिकी सामान्य धरातल का चिन्तन है।

मैनहिम ने वैचारिकी तथा स्वप्नचिन्तन को आदर्श प्रारूप के आधार पर लिया है। वर्तमान में रुचि को वैचारिकी तथा भविष्य में रुचि को स्वप्नचिन्तन कहा गया है। इन्हीं के आधार पर संसार के सभी विचारों का अध्ययन किया जा सकता है। मैनहिम के अनुसार राजनैतिक वैचारिकी, विचारों का आदर्श रूप है। यदि इनका अध्ययन कर लिया जाये और इनके सामाजिक आधारों का

पता लगा लिया जाये तो समस्त सामाजिक चिन्तन की व्याख्या की जा सकती है।

वैचारिकी (ideology)

हितबद्ध एवं स्थितिबद्ध चिन्तन वैचारिकी है। वैचारिकी से मैनहिम का तात्पर्य किसी समूह की उस विचार प्रणाली से है, जो स्वार्थबद्ध हो। यदि ये स्वार्थ परिवर्तित नहीं होते, तो समूह चिन्तन स्थिर रहेगा और नये युग की माँगों से अप्रभावित नहीं रहेगा। समूह की वैचारिकी इस प्रकार स्वार्थों से बँधी हो सकती है कि उसके सदस्य केवल वही कुछ चिन्तन करने योग्य हो सकते हैं, जो कुछ समूह उनके द्वारा चिन्तन कराना चाहता है।

मैनहिम के अनुसार वैचारिकी चिन्तन स्वार्थबद्ध होने के कारण यथार्थ को सही-सही नहीं आँकता। यह समूह जो अपनी सत्ता को स्थिर रखना चाहता है। उसकी चेतना इस प्रकार भ्रामक होती है कि वह परिस्थितियों की वास्तविकता को नहीं समझता है या अपने स्वार्थानुरूप समझता है। अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर वह परिस्थितियों को इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर स्वयं समझता और दूसरों को समझाता है कि, वर्तमान परिस्थिति बदलने न पावे। वैचारिकी के कारण लोग वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट रहते हैं और वर्तमान को बनाये रखना चाहते हैं। सुरक्षा बनाये रखने के प्रयास में वैचारिकी की लोकप्रियता निहित होती है।

वैचारिकी वह विचार प्रणाली है जो किसी समाज व्यवस्था से स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध रखकर उस व्यवस्था को स्थायी रखना चाहती है। मैनहिम ने दो प्रकार की वैचारिकी प्रस्तावित की है—विशिष्ट तथा सम्पूर्ण वैचारिकी।

विशिष्ट या वैयक्तिक वैचारिकी (particular ideology)

जब किसी दूसरे के तर्क को अपने हितों के आधार पर काटते हैं तब वह विशिष्ट या वैयक्तिक वैचारिकी कही जाती है। इसमें व्यक्ति अपने स्वार्थों के अनुसार दूसरों के विचारों का खण्डन करता है। इसे विशिष्ट या वैयक्तिक वैचा-रिकी की संज्ञा इसलिए दी जाती है कि इसका सम्बन्ध व्यक्ति के ज्ञान के आंशिक पक्ष से होता है। वैयक्तिक वैचारिकी मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होती है। यह व्यक्ति की प्रेरणा और उसके उद्देश्यों को व्यक्त करती है। वैयक्तिक वैचारिकी द्वारा विचार प्रक्रिया में व्यक्ति अपना योगदान देता है।

सम्पूर्ण वैचारिकी (total ideology)

कोई विचार जब पूरे समूह का विचार बन जाता है, या कोई वैचारिकी संरचना पूरे समूह का विचार बन जाती है तो वह सम्पूर्ण वैचारिकी होती है। मैनहिम ने सम्पूर्ण समूह के स्वार्थबद्ध चिन्तन को सम्पूर्ण वैचारिकी कहा है।

किसी सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति से उत्पन्न होकर, उसी परिस्थिति को बनाये रखने का उद्देश्य, सम्पूर्ण परिस्थिति से उत्पन्न होकर, उसी वैचारिकी में होता है। यह अपनी परिस्थितियों की उपज होती है। मैनहिम 'सामान्य सम्पूर्ण वैचारिकी' की भी बात करता है। इसका अर्थ है कि परिस्थितियों के अनुसार पूरे युग की वैचारिकी निर्मित होती है।

विशिष्ट एवं सम्पूर्ण वैचारिकी की तुलना

विशिष्ट वैचारिकी का स्तर वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक है, जबकि सम्पूर्ण वैचारिकी का स्तर सामूहिक और सैद्धान्तिक है। व्यक्ति को उसके विचार 'क्रियान्वित' करते हैं। विशिष्ट और सम्पूर्ण वैचारिकी में समानता के अंश होते हुए भी, कुछ मुख्य भिन्नताएँ हैं :

(अ) प्रतिवादी के विचारों के 'कुछ अंशों को' विशिष्ट वैचारिकी कहते हैं, जबकि सम्पूर्ण वैचारिकी प्रतिवादी के सम्पूर्ण चिन्तन से सम्बन्धित होती है। सम्पूर्ण वैचारिकी सामूहिक जीवन का प्रतिफल होती है।

(ब) विशिष्ट वैचारिकी के अन्तर्गत विचारों के केवल मनोवैज्ञानिक स्तर को लिया जाता है। इस प्रकार की धारणा होती है—'प्रतिवादी झूठ बोल रहा है। विशिष्ट वैचारिकी के अध्ययन पर जब प्रतिवादी के विचारों का खण्डन किया जाता है तो, वादी और प्रतिवादी दोनों एक ही प्रकार की प्रामाणिकता की कसौटी पर सहमत होते हैं। और, तभी वे कह पाते हैं कि, कही हुई बात, सच है या झूठ। सम्पूर्ण वैचारिकी में, समान रूप से स्वीकृत प्रामाणिकता की कसौटी नहीं होती। एक ऐतिहासिक सामाजिक युग (या स्थिति) के विचार और प्रामाणिकता के मानदण्ड दूसरे युग की विचार-व्यवस्था से भिन्न होते हैं। युग विशेष की चिन्तन-प्रणाली और चिन्तन करने के तार्किक उपकरण, सम्पूर्ण वैचारिकी के अन्तर्गत आते हैं। विशिष्ट वैचारिकी सैद्धान्तिक स्तर को (noological level) स्पर्श करती है।

(स) विशिष्ट वैचारिकी की व्याख्या हितों के मनोवैज्ञानिक आधारों तक सीमित है। सम्पूर्ण वैचारिकी का विश्लेषण प्रकार्यवादी होता है। और, उससे पता चलता है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक पट-भूमि में, मानसिक संरचना (चिन्तन शैली) कैसे भिन्न होती है।

(स) विशिष्ट वैचारिकी व्यक्ति की होती है। सम्पूर्ण वैचारिकी सामूहिक चिन्तन का संगठित स्वरूप होती है।

सम्पूर्ण वैचारिकी के संप्रत्यय का विकास

संगठित चेतना को सामाजिक जीवन का केन्द्र बिन्दु स्वीकार किया जाता

है। सम्पूर्ण वैचारिकी का संप्रत्यय चेतना के संप्रत्यय से जुटा हुआ है। जैसे-जैसे चेतना के दार्शनिक संप्रत्यय में विकास हुआ है, वैसे-वैसे वैचारिकी-चिन्तन की बौद्धिक पृष्ठभूमि तैयार हुई है। पहला चरण ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया है जिसने सम्पूर्ण वैचारिकी के संप्रत्यय को जन्म दिया है।

पहले चरण में जर्मनी के दर्शन की वह प्रवृत्ति है जिसके अनुसार जगत का अस्तित्त्व केवल ज्ञान की चेतना के संदर्भ में है। व्यक्ति की मानसिक क्रिया ही निर्धारित करती है कि उसे यह जगत कैसा प्रतीत होता है। चेतना के इस सम्प्रत्यय में सम्पर्ण वैचारिकी का बीज समाहित है।

दूसरे चरण में चेतना (हिगेल) कालातीत, समाजातीत होकर 'जगत की आत्मा' बन गई। परन्तु ऐतिहासिक-राजनैतिक तत्त्व चेतना के संप्रत्यय में समाहित हो गये। लोक-चेतना और राष्ट्र-चेतना संप्रत्यय प्रस्तावित किये गये जिनसे राजनीति प्रतिदिन के जीवन में प्रविष्ट हो गई।

अन्तिम चरण में राष्ट्रीय चेतना, लोकचेतना के संप्रत्यय में अन्तर आ गया। समाज विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों में विभाजित हो गया। अतः लोक चेतना ने राष्ट्रीय चेतना का स्थान ले लिया। वैचारिकी वर्ग-हित से जुटी होने के कारण, वर्ग चेतना के संप्रत्यय से भी जुटी हुई है। चेतना के संप्रत्यय के विकास क्रम में 'संगठित चेतना' सामाजिक जीवन का केन्द्रबिन्दु बन गई है। जब समाज की संरचना वर्गीय बन गई तो, चेतना भी वर्गीय-हित-बद्ध हो गई। इसलिए वर्गीय स्वार्थपूर्ण चिन्तन, वास्तविकता को विकृत कर लेता है। सम्पूर्ण वैचारिकी से दोषपूर्ण चेतना उत्पन्न होती है।

दोषपूर्ण चेतना (false consciousness)

स्वार्थबद्ध चिन्तन से दोषपूर्ण चेतना उत्पन्न होती है। स्वार्थबद्ध होने के कारण, वैचारिकी पर आधारित चेतना या समझ दोषपूर्ण होती है। वास्तविकता यह है कि लोग दोषपूर्ण चेतना से प्रभावित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपनी और दूसरों की भूमिका का दोषपूर्ण एवं स्वार्थपूर्ण अर्थ लगाता है। मैनहिम का मत है कि वैचारिकी दोषपूर्ण चेतना का सृजन करती है। व्यक्ति की वैचारिकी उसकी सामाजिक स्थिति और विचार-प्रतिमान के अनुसार होती है। इस संप्रत्यय द्वारा मैनहिम यह बताना चाहता है कि वैचारिकीय चिन्तन, स्वार्थ-बद्ध होने के कारण, यथार्थ को वास्तविक रूप में नहीं देख पाता, बल्कि अपने निहित स्वार्थों के अनुसार देखता है। वैचारिकी के आधार पर, सारे समूह की चेतना स्वार्थ युक्त (भ्रामक) हो जाती है। व्यक्ति अपनी भूमिका और संस्कार का अर्थ भ्रामक चेतना के अनुसार लगाने लगता है। जैसे धर्म, जाति, सम्प्रदाय

या राजनीतिक दल की वैचारिकी से प्रभावित होकर, लोग अपनी भूमिका और परिवेश की वस्तुपरक विवेचना नहीं कर पाते ।

स्वप्नचिन्तन (utopia)

परिस्थितियुक्त एवं भविष्योन्मुख चिन्तन स्वप्नचिन्तन है ।

जो परिस्थिति समाज तथा ऐतिहासिक चिन्तन से सर्वातीत हो जाती है, उसे स्वप्नचिन्तन कहते हैं । जो विचार वर्तमान परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न करे, वह स्वप्नचिन्तन है । जो विचार परिस्थिति के अनुकूल होते हैं, उन्हें **पर्याप्त** कहते हैं और जो प्रतिकूल हैं वे **अपर्याप्त** हैं । स्वप्नचिन्तन वह चिन्तन होता है जो ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों से मुक्त होता है । इसका संकेत उस स्थिति तक होता है, जो अभी तक अप्राप्त होती है । स्वप्नचिन्तन का आधार वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ नहीं होतीं, बल्कि कोई आदर्श, कल्पना, प्रतीक आदि हुआ करते हैं। इनका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

मैनहिम ने स्वप्नचिन्तन की परिभाषा देते हुए लिखा है कि स्वप्नचिन्तन एक ऐसा विचार है जो (केवल वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में) भावी परिस्थिति से सम्बद्ध होता है । इस प्रवृत्ति की सर्वप्रधान विशेषता 'इच्छा पूर्ति की प्रवृत्ति' होती है । जैसा कि नाम से ही प्रकट है, स्वप्नचिन्तन अपूर्त इच्छाओं तथा आकांक्षाओं का काल्पनिक पूर्तिकरण है । इसको कुछ लोगों ने 'पलायन का संसार' भी कहा है । इस विचारधारा को प्रस्तावित करने वाले यह कल्पना करते हैं कि समाज को उन्नति सम्भव है और उसमें विवेकपूर्ण आदर्श की स्थापना की जा सकती है ।

स्वप्नचिन्तन ऐसा चिन्तन है, जिसमें व्यक्ति भविष्य का सुखद स्वप्न देखता है, नई आशाएँ करता है, कल्पना के महल बनाता है और कभी-कभी निराशा के गहरे गर्त में भी जा गिरता है । स्वप्नचिन्तन का प्रारम्भ 'फस्ट्रेशन' से हुआ बताया जाता है । इसका अर्थ होता है, परिवर्तन की इच्छा, वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की आकांक्षा । मैनहिम का कथन है कि स्वप्नचिन्तन ऐसी विचार-प्रक्रिया है जिसको (विचार की) प्रेरणा, सामाजिक यथार्थ की प्रत्यक्ष प्रक्रिया से न मिलकर, प्रतीकों, कल्पनाओं, स्वप्नों के संप्रत्ययों से (जिनका वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं होता) मिलती है ।

मैनहिम ने स्वप्नचिन्तन की चार प्रवृत्तियाँ बतायी हैं :

धार्मिक चिन्तन—'ईश्वर के राज्य का पृथ्वी पर विस्तार होगा', इस प्रकार का चिन्तन धार्मिक स्वप्नचिन्तन होगा ।

प्रतिक्रियावादी चिन्तन—अतीत के गौरव का गान करना, आदि काल की सामाजिक स्थिति को लौट जाना, प्रतिक्रियावादी स्वप्नचिन्तन है।

उदार मानवतावादी चिन्तन—इस प्रकार के चिन्तन का आधार व्यक्ति की पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता है।

वैज्ञानिक साम्यवादी चिन्तन—ऐसे चिन्तन में मार्क्सवादी विचारों की प्रधानता रहती है। ऐसा युग आयेगा जब किसी का शोषण नहीं होगा, यह साम्यवादी स्वप्न है।

वैचारिकी तथा स्वप्नचिन्तन में केवल अंशों का अन्तर है। जो आज स्वप्न चिन्तन है, पूर्ण हो जाने के बाद, कल वही वैचारिकी हो जायेगा। अतः भविष्य का सत्य और यथार्थ, आज का स्वप्नचिन्तन कहा जा सकता है। इसी के आधार पर मानव समाज का विकास होता रहता है। एक परिस्थिति नये चिन्तन को जन्म देती है, और नये चिन्तन से नई परिस्थितियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्वप्नचिन्तन और वैचारिकी का क्रम चला करता है और समाज गतिशील रहता है। स्वप्नचिन्तन को जब बड़ी संख्या में लोग स्वीकार कर लेते हैं तो सामूहिक-क्रिया उत्पन्न होती है।

ज्ञान के समाजविज्ञान के परिणाम

ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति से जुड़ा हुआ ज्ञान-सम्बन्धवादी एवं परिसीमित दृष्टि प्रारूप रखता है।

मैनहिम के अनुसार ज्ञान का समाज विज्ञान एक ऐतिहासिक-सामाजिक शोधविधि है, और ज्ञान के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त भी है। इस ज्ञान के दो परिणाम होते हैं :

1. ज्ञान को नियन्त्रित करने वाले सामाजिक आधार—इसके दो भेद हैं :

(क) व्यक्तिगत तर्क एवं बुद्धि तथा आन्तरिक प्रेरणा का परिणाम ज्ञान नहीं होता। ज्ञान सामाजिक कारकों से उत्पन्न होता है।

(ख) नियन्त्रणकारी सामाजिक परिस्थितियां ज्ञान के केवल ऊपरी सतह को नहीं छूतीं बल्कि चिन्तन का मूलाधार बन जाती हैं।

2. सामाजिक परिस्थितियां व्यक्ति (या समूह) के दृष्टि-प्रारूप को निर्मित करती हैं। दृष्टि-प्रारूप द्वारा संसार के विषय में कल्पना की जाती है।

इस विवेचना के कुछ परिणाम निकलते हैं। मैनहिम के ज्ञान के समाज-विज्ञान की मुख्य विशेषता यही है कि विचार, ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से बद्ध होते हैं। अतः अनिवार्यतः दो मुख्य परिणाम निकलते हैं।

(क) सम्बन्धवाद (relationalism) तथा (ख) दृष्टि-प्रारूप का परिसीमीकरण (particularization)

मैनहिम के अनुसार सभी ज्ञान परिस्थितिबद्ध होता है। अतः सापेक्ष होता है। कोई भी ज्ञान सार्वलौकिक रूप में, समाज के विषय में सम्भव नहीं होता। मैनहिम ने इस बात पर बल दिया है कि समाज के विषय में सार्वलौकिक सत्य की स्थापना नहीं की जा सकती। ज्ञान केवल दृष्टिप्रारूप के आधार पर ही विश्वसनीय समझा जा सकता है।

दृष्टिप्रारूप की धारणा के द्वारा मैनहिम ने यह सिद्ध किया है कि जो व्यक्ति जिस वर्ग का होगा और उसकी जैसी वैचारिकी होगी, उसी के अनुसार वह जीवन तथा संसार को देखने का प्रयास करेगा। अतः किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का ज्ञान, उसके सीमित दृष्टिप्रारूप के अनुसार विश्वसनीय हो सकता है। डेवी और सोरोकिन के अनुसार, मैनहिम ज्ञान की सीमा की बातें करता है। ज्ञान सार्वलौकिक न होकर सीमित होता है। सीमित ज्ञान के आधार पर मैनहिम ने ज्ञान की विश्वसनीयता प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

वही ज्ञान विश्वसनीय होता है जो व्यक्ति को किसी ऐतिहासिक परिस्थिति से सम्बद्ध कराने में सहायक हो। जिस प्रकार हिगेल ने स्वयं इतिहास के विकास की विश्वसनीयता का आधार माना है, और मार्क्स ने सर्वहारा स्तर के ज्ञान को शुद्ध माना है (क्योंकि सर्वहारा किसी का शोषण नहीं करता), उसी प्रकार मैनहिम ने सामाजिक संरचना में ऐसे लोगों की खोज की है जो किसी भी वर्ग या हित से सम्बद्ध नहीं होते। ऐसे वर्ग-विहीन व्यक्तियों का (जो बौद्धिक तथा सामाजिक रूप से निर्लिप्त बुद्धिजीवियों की श्रेणी में आते हैं) ज्ञान, मैनहिम के अनुसार, विश्वसनीय होगा। मैनहिम ज्ञान की विश्वसनीयता का अवसर नहीं प्रस्तुत कर सका, फिर भी वैचारिकी और स्वप्नचिन्तन की अवधारणाएँ सराहनीय प्रयास हैं। इनके द्वारा उसने परिस्थिति और विचारों का सम्बन्ध बतलाया है।

मीमांसात्मक विश्लेषण (epistemological analysis)

मैनहिम के ज्ञान के समाजविज्ञान के अनुसार सभी 'सत्य' परिस्थितिबद्ध होते हैं। अन्तिम अनिवार्य सत्य होते ही नहीं। इसलिए एक नये प्रकार की ज्ञानमीमांसा की आवश्यकता है।

प्रमाणित ज्ञान प्राप्त करने की कार्यविधिकी, ज्ञान मीमांसा कहलाती है। ज्ञान के समाज विज्ञान के आधार पर ज्ञान प्राप्ति के सन्दर्भ में, कुल निष्कर्ष निकलते हैं। ज्ञान मीमांसा का उद्देश्य 'सत्य' की स्थापना करना भी होता है।

10

कार्ल मैनहिम ने सत्य के ज्ञान-मीमांसात्मक स्थापना सम्बन्धी तत्त्वदार्शनिक प्रवृत्तियों का खण्डन करते हुए 'सत्य' की अपनी अलग कसौटी प्रस्तावित की है। तत्त्वदर्शन से प्रभावित प्रवृत्ति को तार्किक-अस्तित्व मीमांसा (ontology) कहेंगे। तार्किक अस्तित्व मीमांसा कुछ ऐसे 'पूर्ण सत्यों' की स्थापना करता है, जिनके अस्तित्व का आधार शुद्ध तर्क होता है। तार्किक-अस्तित्व रखने के कारण ये सत्य घटना-जगत के अन्तर्विरोध से मुक्त होते हैं, पूर्ण होते हैं। तर्क के अतिरिक्त दूसरे किसी आधार पर निर्भर नहीं करते। 'पूर्ण सत्य' तुलना का प्रमाण होते हैं। शेष सभी कुछ अपूर्ण और मिटजाने वाला होता है। तार्किक-अस्तित्व का 'पूर्ण' सत्य परिस्थितिबद्धता, ऐतिहासिकता और सामाजिकता से रहित होता है। ऐसा सत्य 2 + 2 = 4 के समान होता है। ऐसे सत्य अन्तिम होते हैं। मैनहिम के अनुसार परिस्थिति और विचारक की परिस्थितियों से मुक्त होकर, चिन्तन की कोई प्रामाणिकता नहीं होती। अतः अन्तिम और अनिवार्य सत्य होते ही नहीं। सभी सत्य परिस्थितिबद्ध होने के कारण सापेक्षित होते हैं। मैनहिम का मत घटना-मीमांसा से (phenomenology) प्रभावित लगता है।

घटना-मीमांसा की प्रवृत्ति का विरोध, मैनहिम के ज्ञान-समाजविज्ञान की सम्पूर्ण व्याख्या में व्याप्त है। घटना-विज्ञान की स्थापना आधुनिक काल में एडमन हुस्सर्ल (1931) ने की है। घटना-विज्ञान में ज्ञान-क्षेत्र का अन्त नहीं माना जाता। जिस रूप में घटना-जगत, मनुष्य की चेतना में 'अनुभूति' बनकर खुलता है, वही ज्ञान है। अपने इरादों के अनुसार व्यक्ति घटना-जगत के अनुभव को 'अर्थ प्रदान' करता है। ज्ञान को संरचना में ज्ञाता के 'इरादों' की सक्रिय भूमिका होती है। मैनहिम ने विचार की 'सामाजिक-स्थिति' और उसके 'हितों' या प्रेरणाओं को नये ज्ञान-मीमांसा का अंग माना है। अगर ज्ञान के सामाजिक पहलू की व्याख्या करनी है तो, विचारक के सामाजिक लगाव, उसके इरादे और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उपजे हुए ज्ञान को, ध्यान में रखना आवश्यक है कालदिक् से परे होकर शुद्ध चेतना और 'सत्य' से व्याख्या नहीं हो पाती।

विचारक का दृष्टिप्रारूप उसको वैचारिकी से निर्मित होता है। वैचारिकी-निर्मित दृष्टिप्रारूप ऐसी स्वार्थ उन्मुखता है कि विचारक (तथ्य जैसे वे हैं, वैसा न समझकर) अपने स्वार्थ के अनुसार तथ्यों को विकृत करके समझता है। विशिष्ट वैचारिकों से उत्पन्न विचारप्रवृत्ति, प्रतिवादी की प्रस्तावना को, जान-बूझकर संदेह की दृष्टि से देखती है। प्रतिवादी जो कुछ भी कहे, वह विश्वसनीय नहीं। क्योंकि वह वादी के हित के विपरीत है। विशिष्ट वैचारिकी से उत्पन्न दृष्टिप्रारूप व्यक्ति विशेष (वादी) का होता है। सम्पूर्ण वैचारिकी सम्पूर्ण युग, वर्ग या ऐतिहासिक सामाजिक समूह की होती है। सम्पूर्ण वैचारिकी का दृष्टि-

प्रारूप दुर्खीम की प्रतिनिधि चेतना के समरूप है। यह दृष्टि-प्रारूप पूरे युग (या समूह) की मानसिक-संरचना की विशेषताओं से सम्बन्धित है। इतिहास में प्रतिवादी के विचारों का विरोध सदा से होता है। विरोध करने वाले चिन्तन का उपकरण दृष्टि-प्रारूप है। वैचारिकी से पूर्ण चेतना पूर्वाग्रहित होने के कारण 'भ्रामक चेतना' होती है।

ज्ञान की मीमांसात्मक समस्या यह है कि विश्वसनीय ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। मैनहिम ने इसकी दो विधियाँ बतायी हैं—सम्बन्धवाद और परिसीमीकरण। मैनहिम ने ज्ञान-मीमांसात्मक समस्या के दो पक्ष किये हैं। पहला, विचारक किन सामाजिक कारणों और हितों से प्रभावित होकर कोई विचार प्रस्तावित करता है? दूसरा, उसकी प्रस्तावना प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? पहली समस्या की व्याख्या करना ज्ञान समाजविज्ञानका क्षेत्र है। दूसरी समस्या को मैनहिम, पहली समस्या से, पृथक् रखता है। किसी स्थिति विशेष में कोई व्यक्ति क्या विचार रखता है, इसे जान लेने से, उसके विचारों की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर असर नहीं पड़ता। प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता की जाँच करना एक अलग विषय है। ज्ञान-समाज-विज्ञान की प्रामाणिकता यह बता देने में है कि विचारक ने विशेष प्रकार से सोचा ही 'क्यों'। 'क्यों' की खोज करने में विचार की सामाजिक-स्थिति और उसके हितों से उसके विचारों को जोड़ने का प्रयत्न करना प्रामाणिकता स्थापित करना है। यह प्रक्रिया अमूल्यात्मक होती है।

अनन्त सत्य की अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करना ज्ञान के समाज-विज्ञान का उद्देश्य नहीं है। जीवन की परिस्थिति से जूझने के लिए ज्ञान एक उपकरण है। अतः ज्ञान-मीमांसा में तीन कारकों को सम्मिलित करना चाहिए :

(अ) जीवन की परिस्थितियों से सामना करने (सुलझने) का स्वरूप।
(ब) विचार की जैवकीय एवं सामाजिक-ऐतिहासिक बनावट।
(स) विचारक का सामाजिक स्थान।

इन तीनों कारकों से विचार-प्रक्रिया प्रभावित होती है। परिस्थिति में निहित निर्धारक कारक पहले विचारकों का दृष्टि-प्रारूप बनाते हैं। बाद में यही दृष्टि-प्रारूप (वैचारिकी बनकर) शेष चिन्तन-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। नये ज्ञानमीमांसा की स्थापना के अनुसार, विचारक हमेशा 'परिस्थितिबद्ध' होकर ही सोचेंगे।

बाहरी घटना जगत और व्यक्ति की अविरल अन्तराक्रिया से विचार प्रभावित होते हैं। मैनहिम के अनुसार समस्त ज्ञान वस्तुओं का ज्ञान है। वस्तुओं

की विशेषता से ज्ञान प्रभावित होता है। विचारक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार तथ्यों या वस्तुओं का अर्थ लगाता है। उन्हें सुक्रमित करता है। दी हुई ऐतिहासिक परिस्थिति के अनुसार, ऐसे संप्रत्यय (या इरादे) प्राप्त होते हैं जिनके अनुरूप तथ्यों (या वस्तुओं) का अर्थ लगाया जाता है। ऐतिहासिक परिस्थिति के सन्दर्भ में विचारक प्रत्यक्षीकरण करता है। चिन्तन (या विचार) परिस्थिति से उसी प्रकार जुड़ा हुआ है, जिस प्रकार पेड़ की जड़ से शाखाएँ।

सम्बन्धवाद (relationalism)

सामाजिक-ऐतिहासिक-परिस्थिति विचारक के दृष्टिप्रारूप (perspective) में 'समाहित' होकर, उसकी चिन्तन प्रक्रिया को संरचित करती है। ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में वैचारिकी की तटस्थ व्याख्या अमूल्यनात्मक होने के कारण निर्णय रहित होती है। दृष्टिप्रारूप से तात्पर्य है, प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप, या वह तथ्य जिस पर विचारक अपने विचारों को संरचित करता है। चिन्तन और परिस्थिति का अन्तंसम्बन्ध केवल औपचारिक नहीं है, बल्कि 'सामाजिक स्थिति' चिन्तन में समाविष्ट हो जाती है। मैनहिम ने इसे 'स्थिति-सापेक्षता सम्बन्धवाद' कहा है।

सम्बन्धवाद से तात्पर्य यह है कि कुछ सत्य ऐसे होते हैं जिन्हें उनकी ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति में रखकर ही समझा जा सकता है। विचारक को उसकी जीवन-स्थिति में रखकर, उसके विचारकों का विश्लेषण करना सम्बन्धवाद है। ऐतिहासिक ज्ञान सम्बन्धित ज्ञान होता है। ऐतिहासिक अनुसंधान कर्त्ता के उपागम से वैचारिकी का संप्रत्यय अमूल्यानात्मक है। ऐतिहासिक अनुसंधान कर्त्ता 'अन्तिम सत्य' की खोज नहीं करता। वह ज्ञान की व्याख्या उसकी ऐतिहासिकता के अन्तर्गत करके सत्य की खोज करता है। वह केवल 'तार्विक सत्य' की स्थापना नहीं करता। ज्ञान, ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति की सीमा में सार्थक रूप से समझा जा सकता है। विशेष परिस्थितियों से विशेष प्रकार का ज्ञान 'सम्बद्ध' होता है। विचारों की सार्थकता स्थिति के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण होती है। ज्ञान की व्याख्या सम्बन्धवादी उपागम से करने के दो लाभ हैं :

(अ) विषय का ज्ञान बहुत कुछ ज्ञाता की गुणात्मक मनोदशा पर निर्भर करता है। ज्ञाता के स्वार्थ, अभिवृत्ति, इच्छाएँ और इरादों को 'समझ' लेने से ज्ञान की गुणात्मक गहराई का पता चलता है।

(ब) प्रत्येक ऐतिहासिक काल में 'जिम्मेदार बुद्धिजीवियों के समूह' जो ज्ञान की रूप-रेखा प्रस्तावित करते हैं, उसी के अनुसार, उस काल के विचार क्रमबद्ध किये जाते हैं। मैनहिम का तात्पर्य यह है कि युग-विशेष में ज्ञान की एक सन्दर्भ-

परिधि (frame of reference) होती है जो ज्ञान निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

मैनहिम के ज्ञान-मीमांसात्मक निष्कर्षों की कटु आलोचना की गयी है जिसका सारांश यही है कि मैनहिम के मत को बहुत गम्भीरता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञानार्जन के तकनीकी उपकरण इतने सूक्ष्म हो चुके हैं कि ज्ञाता को ज्ञान में अपने पूर्वाग्रहों को सम्मिलित करने का अवसर नहीं हो सकता। फिर भी, राजनीति, नीति-निर्माण, नीति-विज्ञान, प्रचार और पत्रकारिता जैसे क्षेत्रों में कुछ हद तक, ज्ञान का वैचारिकीय-निर्धारण होता है। ज्ञान की बढ़ती हुई वस्तुनिष्ठ परम्परा (और तकनीकी विकास) को नकारना ऐतिहासिक सत्य को नकारना होगा।

परिसीमोकरण (particularization)

स्थितिबद्ध दृष्टि-प्रारूप ज्ञान के विश्लेषण को परिसीमित करता है। परिसीमीकरण द्वारा ज्ञान-विश्लेषण का क्षेत्र सीमित होता है। विभिन्न समूहों (या व्यक्ति) के विचार और दृष्टिप्रारूप भी भिन्न-भिन्न होते हैं। आधुनिक विचारों में उच्चस्तरीय एकत्व स्थापित करने के लिए परिसीमीकरण द्वारा उनकी विषमरसता जानना आवश्यक है।

वर्ग-स्थितिबद्ध, हितबद्ध-चिन्तन वैचारिकी होता है। वैचारिकीय चिन्तन से विचार का दृष्टिप्रारूप का सम्बन्ध समस्त चिन्तन प्रक्रिया को प्रभावित करता है। परन्तु, कोई स्थापना कहाँ तक प्रमाणित है, इसे परिसीमीकरण की प्रक्रिया से जाना जा सकता है। मैनहिम ने स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान के समाजविज्ञान का उद्देश्य पूर्ण सत्य की खोज करना नहीं है। इसका उद्देश्य केवल यह बताना है कि किस परिस्थिति में बँधे हुए लोग किस प्रकार विचार करते हैं। जब कोई व्यक्ति (या समूह) कोई स्थापना (या तर्कवाक्य) रखता है तो ज्ञान का समाजविज्ञान यह बताता है कि उस विचार का दृष्टिप्रारूप क्या है ? वह एक विशेष प्रकार से ही, क्यों चिन्तन करता है ? इन बातों को निर्धारित करना व्याख्या को परिसीमित करना है तथा विचारक और उसकी परिस्थिति में तादात्म्य स्थापित करना है। ऐसा करने में ज्ञान-समाजविज्ञान किसी स्थापना की सत्यता या असत्यता से सरोकार नहीं रखता। ज्ञान का समाजविज्ञान, विचारक और उसकी स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करके, विचारक का क्षेत्र और उसकी प्रामाणिकता का क्षेत्र भी निर्धारित कर देता है। किसी विचारक की सामाजिक स्थिति के अनुसार, उसके हितों, इरादों और स्वार्थों को जानकर उसके विचारों की 'पोल खोल देना' प्रामाणिक व्याख्या करना है। ज्ञान का समाजविज्ञान

सम्बन्धी व्याख्या का क्षेत्र अस्तित्व न होकर केवल इतना सा है कि 'प्रकट या प्रकट' अभिप्रेरणाओं के अनुसार किसी विचारक के विचार क्या हैं। विश्लेषण के क्षेत्र को इस प्रकार परिसीमित करने से विचारों की प्रामाणिकता प्राप्त होती है। विचारों के सम्बन्ध में 'निर्णय' देना नहीं, बल्कि उनका 'संरचनात्मक सम्बन्ध' बताना, ज्ञान समाजविज्ञान का सीमित क्षेत्र है।

सम्बन्धवाद और परिसीमीकरण के संप्रत्यय से ज्ञान की व्याख्या करने से विचारक की अभिप्रेरणाओं का पता चलता है। मगर समाज के समक्ष निष्कपट, निःस्वार्थपूर्ण, वास्तविकतापूर्ण ज्ञान आखिर कौन रखेगा? पापर ने मैनहिम की बड़ी आलोचना करते हुए बताया है कि वैज्ञानिक विधियों से प्राप्त ज्ञान, हितों से मुक्त, यथार्थ की स्थापना करता है। वैज्ञानिक विधियों की प्रामाणिकता से प्राप्त ज्ञान को जो चाहे परख सकता है। इन विधियों की विशेषता उनका जन-चरित्र है। पापर के तर्कानुसार विचारक के 'इरादों' पर आधारित ज्ञान की व्याख्या समाजवैज्ञानिक नहीं है। परीक्षण से प्राप्त ज्ञान को जो चाहे परख ले। अतः इन्हीं विधियों से प्राप्त ज्ञान के लक्षण 'सामाजिक' हैं। यद्यपि परिस्थितिबद्ध करके मैनहिम ने 'बुद्धि' की मर्यादा कम कर दी है, लेकिन निर्लिप्त बुद्धिजीवी की भूमिका के सहारे ज्ञान की वस्तुनिष्ठता की स्थापना की है।

निर्लिप्त बुद्धिजीवियों की भूमिका

वर्गस्थिति से मुक्त और वर्गीय स्वार्थों से निर्लिप्त रहने वाले बुद्धिजीवी वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्रस्तावित करते हैं। निःस्वार्थी होने के कारण उनका दृष्टि-प्रारूप निर्लिप्त एवं तटस्थतापूर्ण होता है।

राजनैतिक विचारों के सन्दर्भ में मैनहिम ने बताया है कि बुद्धिजीवी ही ऐसे विचारक हैं जो वर्गीय स्वार्थों के अनुसार नहीं सोचते। विभिन्न वर्गों के राजनैतिक विचारों के अन्तर्द्वन्द्व को मिटाकर 'संश्लेषण' स्थापित करने के लिए बुद्धिजीवी ही प्रयत्न करते हैं। राजनैतिक विचारों का 'संश्लेषण' समाज की प्रगति को आगे बढ़ाता है। बुद्धिजीवी 'वर्गरहित' होते हैं। उनके सामाजिक-आर्थिक स्तरों में अन्तर होते हुए भी वे 'शिक्षित' होने के कारण उनमें 'सामाजिक बन्धन' होता है, जो वर्ग नहीं कहा जा सकता। बुद्धिजीवी और अ-बुद्धिजीवी में मुख्य अन्तर यह है कि बुद्धिजीवी शिक्षित होने के कारण जागृत विचारों (बौद्धिक माध्यम) से समाज में सहभाग करता है। उसके ऊपर सामाजिक कारक निर्धारणवादी प्रभाव नहीं डाल पाते। जबकि अ-बुद्धिजीवी सामाजिक परिस्थिति में प्रत्यक्ष भाग लेता है। और 'प्रभावग्राही' के रूप में समूह के विचारों को ग्रहण करता चला जाता है। उसके लिए सामाजिक घटनाएँ निर्धारणवादी होती हैं। इसी कारण,

अ-बुद्धिजीवी अपने वर्गीय विचारों, हितों और स्वार्थों से जुटा रहता है। मगर बुद्धिजीवी अपने वर्गीय स्थिति से 'असम्बद्ध' होता है।

बुद्धिजीवी के जीवन का यह संकल्प होता है कि वह झूठ व फरेब में लिपटे स्वार्थों को बेनक़ाब कर दे और राजनीति में कुछ बौद्धिकतत्त्व भी सम्मिलित करे। बुद्धिजीवी निष्पक्ष दृष्टिप्रारूप प्रस्तावित करके समाज के लिए 'प्रहरी' का कार्य करते हैं। उनकी इस भूमिका के अभाव में अँधेरा रहेगा। मैनहिम ने बुद्धिजीवियों की भूमिका की असफलता की ओर संकेत किया है। ऐसे भी बुद्धिजीवी हैं जो, अपने संकल्प को भूलकर परिस्थिति से उत्पन्न, माया-मोह में फँस जाते हैं। बुद्धिजीवियों की भूमिका की असफलता ऐतिहासिक 'भूल' बन जाया करती है। बुद्धिजीवी की भूमिका का मुख्य लक्ष्य 'समाज के लिए संसार, की व्याख्या करना है।'

परन्तु, मैनहिम का सिद्धान्त बुद्धिवाद-विरोधी है। मैनहिम के ज्ञान के समाजविज्ञान की आधारशिला विचारों और स्थिति के परस्पर सम्बन्ध पर रखी हुई है। सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार चिन्तन का दृष्टि-प्रारूप निर्मित होता है। मैनहिम का आग्रह है कि किसी तर्कवाक्य के संस्थापक (विचारक) की सामाजिक स्थिति जानना आवश्यक है। विचारक की वर्ग स्थिति उसकी इच्छाओं, इरादों और अभिवृत्तियों को निर्धारित करते हैं। अतः विचारों का आधार बौद्धिक न होकर अ-तर्कयुक्त इच्छाएँ और स्वार्थ हैं। सम्पूर्ण समूह के अन्तर्युक्त प्रवृत्तियों को मैनहिम ने 'सम्पूर्ण वैचारिकी' कहा है। सम्पूर्ण वैचारिकी से 'भ्रामक चेतना' जागृत होती है। सामूहिक अविवेकशील अचेतन मन की तरह सम्पूर्ण वैचारिकी चिन्तन प्रक्रिया को प्रभावित करती है। विचारों का आधार तार्किक बुद्धि नहीं, बल्कि वासनाएँ हैं।

सामाजिक स्थिति और विचारों का सह-सम्बन्ध इन्हीं तार्किक इच्छाओं के द्वारा स्थापित होता है। व्यक्ति के विचार उसकी वर्ग-स्थिति के समरूप होते हैं। प्रतिदिन के जीवन में ऐसा नहीं देखा जाता। अपने ही वर्ग के कुछ विचारक, वर्गहित के विपरीत या वर्ग-सीमा को पार करके, चिन्तन करते हैं। संकट कालीन अवस्था में वर्गीय-चेतना और स्वार्थबद्ध-चिन्तन जागृत हो सकता है। मगर सामान्य स्थिति में ऐसा नहीं पाया जाता। प्रत्येक वर्ग की 'संगठित चिन्तन अवस्था' कहाँ पायी जाती है ? मैनहिम ने बताया है कि इस प्रकार की 'संगठित चिन्तन व्यवस्था' एक आदर्श-प्रारूप है जो अनुसंधान कर्त्ता की तार्किक संरचना मात्र है। अतः यह एक बौद्धिक गल्प है। इसका वास्तविक-अस्तित्व नहीं है।

अगर विचारक के परिस्थितिबद्ध दृष्टि-प्रारूप का ही परिणाम ज्ञान है

तो 'वस्तुनिष्ठ-ज्ञान' की संभावना क्या है ? अगर स्वार्थवश सभी वास्तविकता को विकृत रूप देते हैं तो वास्तविक-ज्ञान का प्रकाश कहाँ से आयेगा ? मैनहिम ने इस समस्या का समाधान निर्लिप्त बुद्धिजीवी की संकल्पपूर्ण भूमिका से निकाला है। अगर मैनहिम के सिद्धान्त की बुनियादी स्थापनाओं को प्रमाणित मानकर देखा जाय तो, आलोचकों के अनुसार, मैनहिम ने (जो स्वयं बुद्धिजीवी है) बुद्धिजीवियों की भूमिका के महत्त्व को समाज में स्थापित करने के 'स्वार्थ से' वस्तुनिष्ठ ज्ञान का दायित्व उनपर छोड़ दिया है।

जाने-अनजाने में मैनहिम ने एक कड़ुवे सत्य की स्थापना की है। समाज के अधिकांश लोग स्वार्थी, अविवेकशील, मक्कार, वासनायुक्त और भ्रामक-चेतना के शिकार हैं। केवल कुछ निर्लिप्त, संन्यासी की तरह जीनेवाले, बुद्धिजीवी ही विश्वसनीय हैं। मैनहिम की स्थापना आधुनिक जीवन के 'टेम्परामेण्ट' के अनुकूल है। अगर मैनहिम की स्थापना तथ्यगत है तो, स्वार्थियों से घिरी हुई इस दुनियाँ में, हर ईमानदार व्यक्ति बेहद अकेलेपन की यातना झेल रहा है।

REFERENCE

1. Mannheim, Ideology and Utopia, Routledge and Kegal Paul, London, 1952.
2. Max Scheller, Sociology of Knowledge, Bern, 1960.
3. Merton, Social Theory and Social Structure, Macmilon, 1957.
4. Popper, The Open Society and its Enemies, London, 1966.
5. Stark, The Sociology of Knowledge, London, 1967.
6. Saran, A. K., Sociology of Knowledge and Traditional Thought, Soc, Bulletin, XIV, March 1965.

राधाकमल मुकर्जी : ज्ञान और मानवीय मूल्यों का उद्विकास

ज्ञान का उद्देश्य मनुष्य-समाज-प्रकृति का एकसूत्रीय संप्रत्यय प्राप्त करना है। राधाकमल मुकर्जी ने बिखरे हुए खंडित सामाजिक वैज्ञानिक ज्ञान को, तत्त्व दार्शनिक आधार पर, नये समायोजन में प्रेषित करना चाहा है। आखिर, विभिन्न विज्ञानों से प्राप्त ज्ञान का मर्म क्या है ? क्या यह विस्तृत ज्ञान मनुष्य को कोई संकुलित संप्रत्यय दे सकता है ? क्या मनुष्य का नैतिक विकास (जैवकीय विकास से भिन्न) हो रहा है ? इस विकासक्रम में प्रतीक-निर्माण की क्या भूमिका होगी ? इन प्रश्नों का समाधान मुकर्जी ने अपनी लगभग ४० कृतियों में किया है, जिसे कुछ पृष्ठों में समेट पाना कठिन है। ज्ञान वास्तव में, 'सम्पूर्णता' का बोध है, और नैतिकता प्रतीकात्मक है। दोनों ही उद्विकसित हो रहे हैं। इसी आधार पर, इन पृष्ठों में मुकर्जी के विचारों की संक्षित समीक्षा प्रेषित की जा रही है। मुकर्जी आधुनिक अर्थ में, समाज वैज्ञानिक नहीं थे। भारत में समाज-विज्ञान के विकास के वे अग्रज रहे हैं। लेकिन उनके विचारों का महत्त्व समझते हुए कहा जा सकता है कि वे आधुनिक युग के ऐसे समाज विचारक हुए हैं, जिनके विचारों का महत्त्व विश्व-व्यापी है। आज के समाजवैज्ञानिक की रचना में, कम्प्यूटर की तरह सब कुछ होता है, मगर स्वयं, समाजवैज्ञानिक कहा जाने वाला लेखक, अपनी ही रचना से, गायब होता है। मुकर्जी की रचनाओं को पढ़ने से लगता है कि विचारक, एक दार्शनिक, कवि, धीर-गम्भीर रहस्यवादी भक्त के समान, हमारे सामने उपस्थित है। मुकर्जी के पास आधुनिक संप्रत्यय के अनुसार कोई सजाया-सँवारा हुआ सिद्धान्त नहीं मिलता है। जो मिलता है, वह केवल एक दृष्टिप्रारूप मात्र है। अपने दृष्टि-प्रारूप के प्रति वे सदा तर्कसंगत रहे। उनकी निरन्तर रचना-प्रक्रिया को देख कर ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उनका समस्त जीवन प्रार्थना में समर्पित जीवन था। आज की दुनिया से लुप्त होती हुई इस जीवन-शैली के प्रति हमारी श्रद्धा होनी ही चाहिए। मुकर्जी के ज्ञान एवं मूल्य सम्बन्धी विचारों के कुछ संप्रत्यय संक्षेप में विवेचित किये जा रहे हैं।

अपने दृष्टिप्रारूप के अनुरूप मुकर्जी ने सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण किया है। प्रकृति-सामाजिक व्यक्ति-संप्रेषण एवं संस्थाओं के अन्तराक्रिया का योग सामाजिक यथार्थ है। जैवकीय विज्ञान केवल जैवकीय विकास तक सीमित है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उत्तेजना-प्रतिक्रिया और चेतना तक सीमित होते हैं।

गणित तो यांत्रिक-संरूप बना कर चुप हो जाता है। ये सभी विज्ञान अन्तिम मूल्यों की व्याख्या नहीं करते। मानवीय अनुभूति के अवशेषात्मक विश्लेषण होने के कारण सामाजिक विज्ञानों की कोई सामान्य प्राविधिकी भी नहीं है।

सामाजिक यथार्थ अन्तरवैयक्तिक मूल्यों पर आधारित सम्बन्धों में होता है। सामाजिक विज्ञान के वास्तविक आँकड़े मूल्यात्मक होते हैं। व्यक्ति-मूल्य-संस्था तृतक का अन्तरसम्बन्ध सम्प्रेषण द्वारा उत्पन्न होता है। अतः सम्प्रेषण ही सामाजिक यथार्थ का आधारतत्त्व है। सामाजिक विज्ञानों का कार्य सामाजिक यथार्थ में अन्तर्निहित प्रतीकात्मक प्रक्रिया को समझना है। सम्पूर्ण मानवीय परिवेश के तीन प्रमुख अंग हैं। पहला, परिस्थितिकीय अंग है जिसके द्वारा मनुष्य अपने भौतिक परिवेश से समायोजन स्थापित करता है। दूसरा, मनोवैज्ञानिक सामाजिक अंग है जो व्यक्ति की प्रस्थिति-भूमिका निर्धारित करता है। तीसरा, सोद्देश्यपूर्ण नैतिकता है जिसके अन्तर्गत मूल्यों को जीवन में व्यवहृत रूप दिया जाता है। सामाजिक यथार्थ के इस संप्रत्यय के अनुसार सामाजिक विज्ञानों की कार्यविधिकी के निम्नलिखित मूलाधार हैं :

(अ) समूह में व्यक्ति को सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार समझना।

(ब) सामाजिक प्रकार्य का विस्तृत अर्थ जिसमें मूल्य और अर्थबोध भी सम्मिलित हों।

(स) सामाजिक घटनाओं को तर्कसार्थक "आदर्श-प्रारूप" के अनुसार विवेचित करना।

ऐसी प्राविधिकी के अनुसार सामाजिक-विज्ञानों के प्रकार्य और प्रत्येक विज्ञान के संस्थानित मूल्य की तालिका इस प्रकार होगी :

सामाजिक विज्ञानों के प्रकार्य और मूल्य

सामाजिक विज्ञान	प्रकार्य	संस्थानित मूल्य
मानवीय परिस्थितिकी	प्रभुत्व, आरक्षण, सातत्य	उपयुक्तता
मनोविज्ञान	व्यवहार	समग्रता
समाजविज्ञान	सम्प्रेषण और प्रस्थिति	संगठनात्मक एकता
अर्थशास्त्र	विकल्प चयन, दुर्लभता के अनुसार अनुतोष	जनकल्याण
राजशास्त्र	स्वतंत्रता एवं नियंत्रण	समानता
न्याय विज्ञान	सुरक्षा, सामाजिक सम्बन्ध एवं मूल्य	सुरक्षा
नीति विज्ञान	नैतिक मूल्यों का उत्थान	निःस्वार्थता

प्रत्येक विज्ञान मूल्य-केन्द्रित है। और सभी विज्ञानों का उद्देश्य यह ज्ञान प्रेषित करना है कि व्यक्ति-समाज-प्रकृति एक ही सूत्र में बँधे हुए स्तर हैं। अगर यह समझ उत्पन्न हो जाये कि समूह, क्षेत्र, संस्कृतियाँ और प्रकृति, एक दूसरे से अलग-अलग अस्तित्व नहीं, बल्कि किसी एक ही ब्रह्माण्डीय सम्बन्ध में बँधे हुए तथ्य हैं तो, ज्ञान का उद्देश्य पूरा हो जायेगा। विभिन्न समाज विज्ञानों से प्राप्त ज्ञान का सारतत्व इसी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि को उत्पन्न करना है।

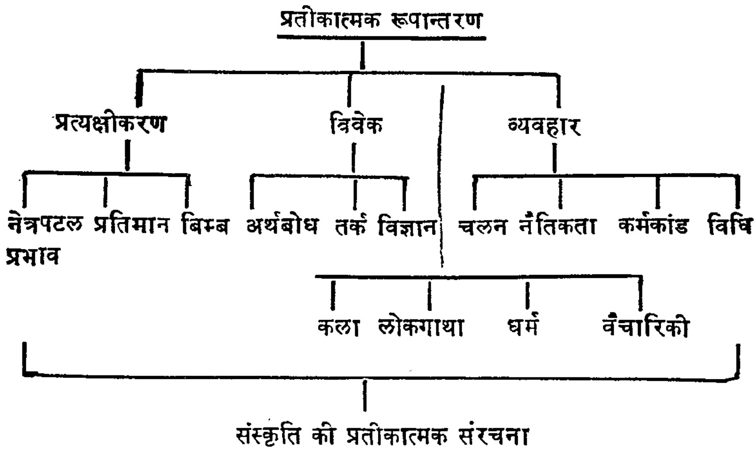
प्रतीक और मूल्य

मानवीय संस्कृति प्रतीकात्मक रूपान्तरण का परिणाम है। जिसे समाज उचित समझता है, वही मूल्य है। इस रूप में, मूल्य समाज के नियम, कानून, प्रथा, नीति, प्रतीक और संस्थाओं में व्याप्त होते हैं। सीखने के माध्यम से मूल्य (प्रतीक के रूप में) व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। व्यक्ति और समाज की अन्तराक्रिया से मूल्यों की अनुभूति के, मुकर्जी ने तीन स्तर बताये हैं। सामाजिक संगठन की मात्रा की कमी या अधिकता के अनुसार सामूहिक जीवन की विशेषताएँ बनती हैं। **पहला, भीड़** में संगठन एवं एकता अस्थायी होती है। मूल्य केवल संवेगों को जगाने तक सीमित होते हैं। मूल्यों की मात्रा और गहनता केवल इतनी कम मात्रा होती है कि भीड़ का संगठित रूप किसी तरह बना रहता है। **दूसरा, हित-समूह** में सहानुभूति और सहयोग की मात्रा अधिक होती है। संगठन अपेक्षाकृत स्थायी होता है और मूल्यों की मात्रा अधिक और गहन होती है। हित-समूह में प्रत्येक व्यक्ति का हित दूसरे से जुड़ा हुआ होता है। अतः मूल्य भी कुछ अधिक संगठनकारी होते हैं। **तीसरा, समुदाय** या समाज में एकता और अधिक होती है। विश्व-समाज के स्तर पर मूल्यों का विस्तार सार्वलौकिक हो जाता है।

समूह की स्थिति के अनुसार व्यक्ति मूल्यों की अनुभूति उठाता है। यह अनुभूति उद्विकासवान भी होती है। दूसरा, मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बना हुआ समूह धीरे-धीरे सामाजिक संस्था में बदल जाता है। पारिवारिक, राजनैतिक, औद्योगिक, न्यायिक संस्थाओं के आधार, मूल्य भी हुआ करते हैं। सामाजिक मूल्य संस्थाओं के माध्यम से प्रभावशाली होते हैं। परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन आया करता है। संस्थानित दबाव के अन्तर्गत मूल्यों की अनुभूति, नियन्त्रणकारी होती है। तीसरा, मूल्य जब व्यक्तियों के अन्तःकरण में समाहित हो जाते हैं तो वे फिर किसी समूह या संस्था पर नहीं निर्भर करते वे स्वायत्वपूर्ण हो जाते हैं। मूल्यों का अन्तःकरण का अंग हो जाना सार्वलौकिक अनुभूति है।

मूल्यों को आत्मसात् करके व्यक्ति अपने सीमित दायरे से बाहर निकलता है। वह सामाजिक बन्धनों को भी पार कर जाता है। धर्म और कला के प्रतीकात्मक मूल्य व्यक्ति को अनेक सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर देते हैं, और वह जिन मूल्यों को चाहता है उनकी पूर्ति में सृजनात्मक रूप से लग जाता है।

मुकर्जी के मतानुसार मूल्यों के माध्यम से व्यक्ति अपने परिवेश से समायोजन स्थापित करता है। पहला, जैवकीय और भौतिक स्तर है। दूसरा, प्रतीकात्मक स्तर है। मनुष्य में तर्क एवं बुद्धि की ऐसी क्षमता है कि वह प्रतीक निर्माण कर सकता है। यह क्षमता किसी दूसरे प्राणी में नहीं है। मुकर्जी के अनुसार मूल्यों का स्रोत सांस्कृतिक होता है और मानव-संस्कृति मनुष्य की प्रतीक-निर्माण क्षमता से विकसित हुई है। प्रतीकों का निर्माण करना और अपने परिवेश को, उन प्रतीकों के अनुसार रचने से, संस्कृति विकसित हुई है। मनुष्य का व्यक्तित्व और आचरण भी प्रतीक का रूपान्तरण है। मुकर्जी ने प्रतीकात्मक रूपान्तरण की प्रक्रिया का सारांश निम्नांकित तालिका में दिया है।



मनुष्य ने अमूर्तिकरण, कल्पना, भाषा, नैतिकता, धर्म, कला, दर्शन, और विज्ञान से जो कुछ रचा है, वह इस संसार का प्रतीकात्मक आयाम है। इसके अतिरिक्त उसने अपने भौतिक परिवेश पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए, जो भौतिक एवं उद्देश्यात्मक प्रयत्न किये हैं, वे भी प्रतीकात्मक सृजन के अन्तर्गत आते हैं। मुकर्जी ने प्रतीकों की भूमिका में सम्प्रेषण के अतिरिक्त मर्मस्पर्शी सम्प्रेषण (communion) को सम्मिलित किया है। अमूर्त और अभिव्यक्तात्मक प्रतीक से मर्मस्पर्शी सम्प्रेषण सम्भव होता है। प्रतीकों के इसी गुण पर उच्च कोटीय नैतिकता की आधार-शिला रखी जा सकती है।

मानवीय मूल्यों का उद्विकास

मानवीय मूल्यों का विकासक्रम, मनुष्य-समाज-विराट (cosmos) के अन्तर्सम्बन्ध की स्थापना करता है। मुकर्जी का विश्वास है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या विराट उद्विकसित हो रहा है जिसके साथ मानवीय स्वभाव और मूल्यों में भी अविरल उद्विकास हो रहा है। मानवीय जीवन का आधार अवश्य जैवकीय है, परन्तु उद्विकास के साथ मनुष्य में कल्पना, बुद्धि, तर्क प्रतीक-निर्माण की क्षमताएँ विकसित हो गयीं। अपनी इन क्षमताओं के प्रयोग द्वारा-जैवकीय उद्-विकास की सीमा से निकलकर, मनुष्य नैतिक उद्विकास के आयाम में आ गया है। मुकर्जी का विश्वास है कि नैतिक उद्विकास के इस आयाम में प्रवेश करने के लिए लोकातीत और मुक्त होने के गुण आवश्यक हैं। मानवीय स्वभाव और मूल्यों का उद्विकास 'मुक्त' प्रक्रिया है। जैसे-जैसे मनुष्य सार्वलौकिक मूल्यों को आत्मसात् करता जाता है, वैसे-वैसे उसका उद्विकास होता जाता है। मानवीय नैतिक विकास मूल्यों के श्रेणीक्रम पर आधारित है। इस श्रेणीक्रम में, मनुष्य-समाज-नियमबद्ध जगत्, तीनों में तादात्म्य स्थापित कर लेना सर्वोच्च मूल्य है। सीमित बन्धनों को पार करके मनुष्य को, सम्पूर्ण मानव जाति एवं सम्पूर्ण नियमबद्ध ब्रह्माण्ड से, अपना नाता जोड़ लेना नैतिक उद्विकास का "निहित उद्देश्य" है। मानवीय उद्विकास का क्रम, जैवकीय मनोवैज्ञानिक स्तर से उठ कर, नैतिकता स्तर तक पहुँचा है। मनुष्य के उद्विकास का लक्ष्य असीमित ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण से तादात्म्य स्थापित करना है। उद्विकास की यह प्रक्रिया मुक्त है। अर्थात् मनस, मूल्य और संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य में नैतिक उद्विकास की सर्वोच्च सम्भावना उत्पन्न हो गयी है। मुकर्जी के मतानुसार, मनुष्य में अनेक अपरिभाषित सम्भावनाओं से सम्मजन करने की क्षमता है।

मानवीय मूल्य यद्यपि अनन्त होते हैं, लेकिन उनका प्रकाशन अपरिवर्तनशील सामाजिक जगत में ही सम्भव है। उद्विकास अविरल प्रक्रिया भी है। उद्विकास की प्रक्रिया में, सोपानों का श्रेणीक्रम, प्राकृतिक रूप से ही उनका प्रमाण बन गया है जैवकीय-परिस्थितिकीय, सामाजिक और लोकातीत। मुकर्जी ने नैतिकता के आयामों, मूल्यों और उद्गुणों की सारणी इस प्रकार दी है :

मूल्यों एवं नैतिकता के उद्विकास के आयाम

उद्विकास क्रम	मूल्य	सामाजिक संकुल	नैतिकता प्रतिमान	व्यवस्था के गुण
जैवकीय परि-स्थिति	रक्षण प्रभुत्व एवं सातत्य	हित-समूह	पारस्पर्य	व्यवहारिक-बुद्धि
सामाजिक	प्रस्थिति	समुदाय	न्याय	निष्ठा
लोकातीत	व्यक्तित्व और चरित्र	सम्पूर्ण	प्रेम	श्रद्धा

अहं की सीमा पार करने से नैतिकता मूल्य उत्पन्न होते हैं। दूसरों से सम्बन्ध, सम्प्रेषण और पारस्पर्य से मूल्य विकसित होने लगते हैं। नैतिक मूल्यों का एक पक्ष परा-अहं, अन्तःकरण और निष्ठा से सम्बन्धित होता है। परन्तु मनुष्य अपना सम्बन्ध, जैसे-जैसे अपने आपसे विस्तृत सामाजिक क्षेत्र से, जोड़ता जाता है, उसके मूल्य भी उद्विकसित होने लगते हैं। सामाजिक-संकुल और मूल्यों की श्रेणीक्रम स्थापित करते हुए, मुकर्जी ने हित-समूह, समुदाय और सम्पूर्ण मानव-समुदाय के तीन स्तर बताये हैं :

हित-समूह-भीड़ की अपेक्षा हित-समूह में स्थायित्व अधिक होता है। ट्रेन यूनियन, सीमित और राजनैतिक दल, हित-समूह के अच्छे उदाहरण हैं। व्यक्ति निजी-हित बिना पारस्पर्य के पूरे नहीं हो सकते। इसलिए सहयोग, सहानुभूति और दूसरों के हितों को ध्यान में रखने से न्यूनतम मूल्य उत्पन्न होते हैं। विभिन्न हित-समूह अपने सीमित हितों की पूर्ति के लिए सहयोग संघर्ष की प्रक्रिया में निकट या दूर आते रहते हैं। इस समूह का मूल गुण व्यावहारिक बुद्धि है।

समुदाय—सामुदायिक संकुल या समाज के अन्तर्गत हित पूरे समुदाय के सहयोगात्मक जीवन से जुड़ जाते हैं। हम सब एक हैं। हमारे हित सामान्य हैं। इस प्रकार के सामाजिक संगठन में सामाजिक मूल्य, हित-समूह की तुलना में, अति व्यापक और गहन होते हैं। इस संगठन का मूलगुण 'निष्ठा' है ?

सम्पूर्ण मानव समाज—सम्पूर्ण मानव-समाज को इकाई स्वीकार करके जब व्यक्ति उस सम्पूर्णतया से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, तो मूल्य सार्वलौकिक हो जाते हैं। प्रेम, समानता, बन्धुत्व ऐसे सार्वलौकिक मूल्य हैं जिनका पालन व्यक्ति त्याग और तपस्या के साथ करता है। इस सामाजिक संकुल पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का मूल गुण 'श्रद्धा' है।

मुकर्जी का स्पष्ट कथन है कि मनुष्य के नैतिक मूल्यों का उद्विकास हित समूह के माध्यम से 'आदर्श समाज' या संसार के 'मुक्त समाज' की ओर हो रहा है। उद्विकास की इस द्वन्द्वात्मक' प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए मुकर्जी ने बताया है कि व्यक्ति मूल्य और परम्परा के स्तरों पर, पक्ष (thesis) प्रतिपक्ष (anti-thesis) में जो द्वन्द्व होता है, उससे सत्य का संश्लेषित रूप (synthesis) सामने आता है।

मानवीय सामाजिक उद्विकास का द्वन्द्वात्मक उद्विकास

स्तर	पक्ष	प्रतिपक्ष	संश्लेषण
व्यक्तित्व	आत्म-निर्धारण	आत्म-अतिक्रमण	संगठित 'स्व'
मूल्य	उपकरणात्मक	स्वाभाविक एवं लोकातीत मूल्य	प्राकृतिक मूल्य व्यवस्था
परम्परा	प्रजाति-केन्द्रित एवं राष्ट्र-केन्द्रित	विश्व-समुदाय	बहुल सांस्कृतिक उद्विकास

मुकर्जी ने हिगेल के द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त को स्वीकारते हुए लिखा है कि विपरीतता के संघर्ष से उत्पन्न संश्लेषण नैतिकता विहीन नहीं है। ऐतिहासिक विकास मूलतः, एक नैतिक प्रक्रिया भी है। व्यक्ति स्तर पर जब अहं केन्द्रित और आत्म-अतिविस्तृत प्रवृत्तियों का द्वन्द्व होता है तो उससे पूर्ण संगठित 'स्व' का निर्माण होता है। मूल्यों के स्तर पर दो विपरीत प्रवृत्तियों के द्वन्द्व से, जो कि प्रवृत्ति (ब्रह्माण्डीय नियमों) के अनुरूप हैं, मूल्यों का स्वाभाविक गुण विकसित होता है। मुकर्जी का मत है कि सम्पूर्ण सृष्टि में उद्विकासीय प्रवृत्ति उदित होती है। अतः वही प्रवृत्ति मूल्यों को भी प्राकृतिक स्वरूप प्रदान करती है। परम्परा के स्तर पर होने वाले द्वन्द्व से अनेक संस्कृतियों के उद्विकासीय स्वरूप सामने आते हैं। संस्कृतियाँ मुक्त होकर मुखरित हो रही हैं जो आगे चलकर विश्व-संस्कृति की एकता में परिणत होंगी।

विश्व आत्मा का बोध ही मूल्यों के विकास का अन्तिम लक्ष्य है। जिस तरह नदी सागर में मिल जाती है, उसी तरह प्रक्रिया यथार्थ (या सत्य) में परिणत हो जाती है। इसी तथ्य को समझ लेना विश्व-आत्मा बोध जागृत होना है। मनुष्य के ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य यही समझना है। एक में अनेक तथा अनेक में एक निहित है। मानवीय मूल्यों के उद्विकास का लक्ष्य विश्व-आत्मा तक पहुँचना है। बीसवीं शताब्दी में सामाजिक प्रभाव के संप्रत्यय को इतना महत्त्व दिया जा रहा है कि समाज के समक्ष व्यक्ति का महत्त्व या उसका दायित्व बोध ही धूमिल पड़ गया है। आज की दुनिया में 'आर्थिक व्यक्ति', 'भीड़ का व्यक्ति, 'संगठित व्यक्ति' जैसे संप्रत्यय प्रचलित हैं। मुकर्जी ने उद्विकास के सन्दर्भ में, विश्व-मानव या 'विश्व' या 'विश्व-आत्मा' का संप्रत्यय प्रस्तावित किया है। पुनर्शिक्षा द्वारा भीड़ का व्यक्ति विश्व-मानव में परिणत किया जा सकता है। यह नैतिक उद्विकास दो प्रकार से सम्भव है। पहला, सामाजिक संकुल के विकास-क्रम के अनुसार भीड़, हित-समूह, समुदाय और विश्व-समाज के नैतिक मूल्य सीमित से सार्वलौकिक होते जाते हैं। दूसरा, श्रम या प्रकार्य के

आधार पर समाज के संस्तरण में कुछ भूमिकायें प्राकृतिक रूप से श्रेष्ठतम होती हैं। भारतीय वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान उसके त्याग और पथ प्रदर्शक भूमिका के कारण, श्रेष्ठ माना गया है। प्लेटो ने दार्शनिक शासकों को श्रेष्ठ बताया है। वे लोग निर्वाण प्राप्त होते हैं। मुकर्जी के अनुसार जीवनमुक्ति तथा बोधसत्य के संप्रत्यय से, विश्व-आत्मा बोध के मूल्यों को भूमिका में साकार कर लेने से सामाजिक श्रेणीक्रम बनता है। अगर सभी लोग विश्वसमाज के मूल्यों को अपने जीवन में साकार कर लें तो नया उद्विकसित समाज उत्पन्न हो जायेगा। मुकर्जी का उद्विकास सम्बन्धी मत, समाज को नये श्रेष्ठतम मूल्यों के आधार पर पुर्नसंगठित करने की सम्भावना प्रेषित करता है। अपने जीवनकाल के अन्तिम समय की पुस्तक **कम्युनिटी आफ कम्युनिटीज** (1966) में मुखर्जी ने ऐसे समुदाय की कल्पना की है जो समुदायों का समुदाय होगा। अर्थात् ऐसा समुदाय जो मनुष्य-समाज-ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में संकलित करेगा। मानव सभ्यता का यह बिन्दु उद्विकास का परिणाम होगा।

ऐतिहासिक विकास क्रम के साथ मनुष्य की मनोवृत्ति, मूल्य और सामाजिक संगठन भी विकसित होते जा रहे हैं। इस सीधी-सी बात को कहने के लिए मुकर्जी ने जो काव्यात्मक तर्क प्रेषित किया है उससे उनके विचारों का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता, बात कुछ उलझ जाती है। लगता कि मुकर्जी जो विचार प्रेषित कर रहे हैं, उसे हम रहस्यात्मक अभिव्यक्ति अथवा 'विश्वास की प्रेरणा' के अन्तर्गत रख सकते हैं। क्योंकि उसमें समाजवैज्ञानिक महत्त्व की बातें बहुत कम हैं। समाजवैज्ञानिक ज्ञान की सीमा के अन्तर्गत इस दुनिया से अलग किसी ब्रह्माण्डीय चेतना को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। इस तरह के रहस्यवादी तथ्यों को ज्ञान की विषय-वस्तु बनाना, समाज विज्ञान को नकारना है। वास्तविक दुनिया की आकस्मिकता, अविवेकशीलता, अतर्कसंगता के बीच, मनुष्य की सीमाओं की वास्तविकता से आँख बन्द करके 'अनन्त तथ्य' में शरण लेना 'प्रार्थना' है, विज्ञान नहीं।

REFERENCE

1. Mukherjee, R. K., The Dimension of Human Values, London, 1963.
2. Mukherjee, R. K., The Dynamics of Morals.

विल्फ्रेडो पारेटो का सिद्धान्त

(VELFREDO PARETO)
(1848–1923)

पारेटो की दृष्टि

पारेटो मौलिक सिद्धान्तकार और सामाजिक आलोचक है। समाज के विश्लेषण की उसने एक प्रणाली दिया है। मानव व्यवहार के आधारतत्त्व की विवेचना करते हुए पारेटो ने मौलिक सामाजिक सत्य की स्थापना का प्रयास किया है, और वह मौलिक सत्य है—"मनुष्य का स्वार्थी होना।" मनुष्य ने विवेक, निःस्वार्थ और सभ्य होने का जो आवरण अपने ऊपर डाल रखा है, अगर उसे उतार फेंका जाय तो, स्वार्थी एवं अविवेकी प्राणी के रूप में मनुष्य मिलेगा, जिसका मूलभूत मनोवैज्ञानिक चरित्र अपरिवर्तनीय है। यह विचारधारा सीधे चोट पहुँचाती हैं उन सभी अवधारणाओं पर जो मनुष्य और समाज को बेहतर बनाना चाहते हैं। पारेटो के अनुसार इतिहास में मनुष्य, मनुष्य पर जुल्म करता आया है। जुल्म के खिलाफ आवाज उठाने वालों पर पारेटो "व्यंग्यात्मक मुस्कान" (a mocking smile) के साथ बता देगा—मनुष्यरूपी पशु जब एक दूसरे के टुकड़े-टुकड़े करते हैं तो ऐसा ही होता है। इतिहास की यह सामान्य घटना है। सदा से मनुष्य बर्बरतापूर्ण अत्याचार आदि मार-काट द्वारा अपनी ही प्रजाति को बरबाद करता रहा है।"[1]

पारेटो उनपर भी "व्यग्यांत्मक मुस्कान" बिखेरता है जो "स्वतन्त्रता" के लिये संघर्ष करते हैं। उसकी निगाह में नई यातनाओं को लादने का दूसरा नाम स्वतन्त्रता की स्थापना करना है। इसी कारण इटली के फासिस्टवादी विचारधारा में पारेटो के सिद्धान्तों का योगदान माना जाता है और फासिस्ट विरोधी विचारक पारेटो को "बुर्ज्वाजी का कार्ल मार्क्स" (Karl Marx of Bourgeoisie) कहते हैं। कुछ लोग यहाँ तक कहते हैं कि पारेटो का सम्पूर्ण रचना-जगत एक प्रकार का व्यंग्य और सनक है।

---

1. प्रथम महायुद्ध (1914-18) में जर्मन फौजी टुकड़ियों द्वारा किये गये बर्बरतापूर्ण अत्याचार पर पारेटो की प्रतिक्रिया।

पारेटो अपनी जीविका के लिये किसी पर निर्भर नहीं था। वह पूर्ण स्वतन्त्र, अप्रतिबद्ध, सचेत एवं बुद्धि का प्रखर विचारक था। उसकी वैयक्तिक सनक (personal idiosyncrasies) के कारण उसकी रचनाएँ कठिन हो गयीं। संसार में नैतिकता के प्रसार के किसी भी उपाय का पारेटो ने स्वागत नहीं किया बल्कि उस पर व्यंग्य किया, बोली-ठोली किया और अवमान्य कर दिया। पारेटो अपने आप को वैज्ञानिक और मूल्य-निर्पेक्ष विचारक मानता था। फिर भी प्रचलित विचारधाराओं और आन्दोलनों का मूल्यांकन करते हुए उनकी आलोचना भी किया करता था। पारेटो की दोष-दृष्टि के पीछे कुछ सैद्धान्तिक कारक भी हैं। पहला, सामाजिक घटनाएँ चक्रक होती हैं। उनका जो रूप अभी सामने है, वह चक्र के साथ बदल जायगा। रूपवान घटना की वास्तविकता कुरूपता में परिणित हो सकती है। दूसरा, जो सामाजिक घटनाएँ नैतिक प्रधान लगती हैं, वास्तव में स्वार्थनिहित उद्देश्यों से प्रेरित होती हैं। समानता, स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और समाजवाद वास्तव में "छिपे हुए स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों" की पूर्ति करने वाली आदर्शमूलक घटनाएँ हैं। इन उद्देश्यों की जड़ें मनुष्य के "इच्छाओं की भूख" और "मनोभाव" में होती हैं। नैतिकता की बातों को पारेटो "कुतर्क" और "शाब्दिक दगाबाजी" मानता है। नैतिक विवेचन अवैज्ञानिक होता है।

सामाजिक कर्म को पारेटो ने तेजधार से दो कोटियों में बाँटा है—तार्किक कर्म (logical action) और अतार्किक कर्म (non-logical action)। यह वर्गीकरण इतना सरल है कि सम्पूर्ण सामाजिक कर्म की व्याख्या नहीं कर पाता। सामाजिक कर्म इतने जटिल होते हैं कि उन्हें तार्किक-अतार्किक अथवा नैतिक-अनैतिक की कोटियों में सरलता से विभाजित नहीं किया जा सकता। एक सरल विभाजन-नियम को वैज्ञानिक मान लेने के कारण, पारेटो का समाज दोष-पूर्ण हो गया।

पारेटो : सामाजिक व्यवस्था (Pareto : Social System)

पारेटो के अनुसार समाज एक व्यवस्था (a system) है और इस व्यवस्था को संगठित और पुनर्गठित करने में अनेक परिवर्त्य (variables) कार्य करते हैं। पारेटो ने केवल कुछ परिवर्त्यों की विवेचना किया है। समाज व्यवस्था में तीन कोटियों के तत्त्व सम्मिलित होते हैं :

(अ) **भौतिक दशाएँ** (Physical conditions)—मिट्टी, पानी, खनिज, पेड़, पहाड़ आदि प्राकृतिक वस्तुएँ भौतिक दशाओं में आती हैं। जो वस्तुएँ

मानवीय नहीं (non-human) हैं, भौतिक हैं। समाज व्यवस्था के लिये भौतिक दशाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, लेकिन पारेटो ने उनका परीक्षण नहीं किया है।

(ब) **बाहरी तत्व** (External conditions)—बाहरी तत्व का अर्थ पारेटो ने उस तत्व से लगाया है जो दिये हुए समाज (जिसका अध्ययन किया जा रहा हो) के बाहर हो। बाहर का अर्थ है वर्तमान काल एवं दिक् (time-space) से बाहर। जैसे अतीत का वर्तमान समाज पर प्रभाव। दूसरी संस्कृतियों का वर्तमान समाज पर प्रभाव। हर पूर्ववर्ती अवस्था "बाहर" होती जाती है।

(स) **आन्तरिक तत्व** (Internal elements)—आन्तरिक तत्वों के अन्तर्गत पारेटो उन शक्तियों को रखता है जो समाज व्यवस्था को वर्तमान में प्रभावित कर रही हैं। सामाजिक विषमता, वर्गों का परिवर्तन चक्र, प्रजाति, अवशेष, औचित्य-समर्थन, लोगों के विचार, अभिवृत्तियाँ और लोगों का ज्ञान आदि आन्तरिक तत्व हैं जोकि समाज व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। सबका तो नहीं, इनमें से केवल चार का पारेटो ने विश्लेषण किया है :

(1) अवशेष (residues)
(2) औचित्य समर्थन (derivations)
(3) सामाजिक विषमता (social heterogeneity)
(4) वर्ग-चक्र (class circulation)

पाँचवाँ तत्व है हित या **स्वार्थ** (interests) जिसका पारेटो ने गहन अध्ययन नहीं किया। स्वार्थों के अन्तर्गत, पारेटो ने, केवल भौतिक सुख-सुविधाओं को ही नहीं बल्कि स्टेटस और प्रतिष्ठा को भी सम्मिलित किया है। सामाजिक उपयोगिता, जिसे अनुभव किया जा सके, धन से उत्पन्न होती है। अतः हितों का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। पारेटो का कथन है कि मूलप्रवृत्ति और विवेक का कार्य है हितों का सृजन करना। अवशेष और हित मनोभाव पर निर्भर होते हैं। पारेटो की सामाजिक व्यवस्था के सभी तत्वों में से अवशेष (residues) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का व्यक्तित्व जटिल है और उसकी इच्छाएँ और अभिप्रेरणाएँ भी अत्यन्त जटिल हैं। मनुष्य तर्कबुद्धि से नहीं, संवेगों से प्रेरित होकर कार्य करता है। अवशेष वास्तव में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के रूप में पहचाने जाते हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर वे प्रगट भी होते हैं। अवशेषों के मूल में मनोवेग (sentiments) होते हैं। वे चेतन और अचेतन दोनों ही अवस्थाओं में बने रहते हैं। पारेटो के अनुसार

अवशेष और मनोवेग मिलकर मानवीय व्यक्तित्व की जटिलता तथा उसकें इरादों, इच्छाओं और अभिप्रेरणाओं को निर्धारित करते हैं।

औचित्य-समर्थन (derivations) तो तर्क है। ऐसे तर्क जो मनुष्य की अभिप्रेरणाओं, इच्छाओं और उसके इरादों को तर्कयुक्त, विवेकपूर्ण और उचित ठहराते हैं। मनुष्य को कुटिलता को तर्कयुक्त ठहराते हैं, दूसरे शब्दों में औचित्य-समर्थन होते हैं। अतः औचित्य-समर्थन ऐसी विधियाँ हैं जिनसे अतार्किक कर्म, तार्किक (औचित्यपूर्ण) प्रतीत होने लगते हैं। औचित्य-समर्थन द्वारा वास्तविक इरादों पर परदा डाला जाता है।

पारेटो मानता है कि मानव-समाज में सामाजिक विषमता (social heterogeneity) अनिवार्य रूप से पायी जाती है। व्यक्तियों में समानता नहीं है। बुद्धि, बल, नैतिकता के आधार पर विषमता है। पारेटो ने सामाजिक विषमता के कुछ सूचक भी गिनाये हैं। पहला, सामाजिक स्तरीकरण और गत्यात्मकता का होना। दूसरा, मनोवैज्ञानिक क्षमता में अन्तर होना। तीसरा, परिवार और पेशे के आधार पर असमानता का होना। इन विषमताओं का परिणाम यह होता है कि लोगों के व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न होते हैं और उनकी अभिप्रेरणाएँ भी भिन्न हो जाती हैं।

समाज में दो प्रमुख वर्ग होते हैं। एक तो शासकों का वर्ग और दूसरा शासित लोगों का वर्ग। पारेटो इन्हें सम्भावित जन (elite) और शासित वर्ग कहता है। इन दो वर्गों में पारस्परिक क्रिया होने से, लोग एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार वर्ग चक्र या सम्भावितजन परिवर्तन चक्र (circulation of elite) चलता रहता है। यह चक्र चलता ही क्यों है ? पारेटो का उत्तर है रुचियों (tastes) और अवरोध (obstacles) का टकराव। रुचियों का अन्त नहीं मगर रुचिपूर्ति के साधन दुर्लभ (scarcity of resources) होते हैं। इच्छाएँ अनन्त हैं मगर सुअवसर कम हैं। संघर्ष होगा ही। असंतुष्ट वर्ग अपने इरादों को औचित्य-समर्थन देगा। इस प्रकार वर्गों का परिवर्तन-चक्र चलता रहेगा और समाज व्यवस्था की निरन्तरता बनी रहेगी।

तार्किक और अतार्किक कर्म (Logical and Non-logical Actions)

पारेटो की दृष्टि में मनुष्य अतर्कन (unreasonable) और तर्कन करने वाला प्राणी है। शायद ही कभी मनुष्य तर्कसंगत व्यवहार करता है, मगर दूसरों पर यही रंग जमाना चाहता है कि उसका व्यवहार तर्कसंगत है। मनोभाव, संवेग, स्वार्थनिहित व्यवहारों को तर्कयुक्त दलील देकर उचित ठहराने की प्रवृत्ति मनुष्य

के स्वभाव का स्थायी गुण है। अपने अतार्किक कर्म (non-logical actions) को बौद्धिक स्तर पर तर्कसंगत बताने का कार्य-व्यापार समाज के सदस्यों में व्यापक है। पारेटो के अनुसार मनोभाव (sentiment) पर आधारित कर्म अतार्किक है। अगर मनुष्य के स्वभाव का सरलीकरण किया जाय तो उसका अन्तिमगुण (तर्कसंगतता न होकर) मनोभाव (sentiment) होगा। चेतना के अवशेष के रूप में जो मनोभाव हैं, उन्हें पारेटो अवशेष (residue) की संज्ञा देता है। अवशेष, किसी हद तक, स्थिर (constant) होते हैं मगर अवशेष से उभरे हुए अतार्किक कर्मों का बुद्धिवादी औचित्य ठहराने का आडम्बर बदलता रहता है। पारेटो इस प्रक्रिया को **औचित्य-समर्थन** (derivations) कहता है। अवशेष और औचित्य-समर्थन अतार्किक कर्म की कोटि में आते हैं।

तार्किक कर्म (logical action) क्या है ? पारेटो इन्जीनियर और अर्थशास्त्री था। तार्किक कर्म की स्थापना उसने साधन-साध्य के आधार पर किया है। एक ऐसे इन्जीनियर का ही उदाहरण ले लें जो किसी पुल का निर्माण कर रहा हो। पुल बनाना साध्य (end) या लक्ष्य है और निर्माण की सामग्री एवं डिजाइन साधन (means) है। पुलनिर्माण में साधन-साध्य की एक रूपरेखा इन्जीनियर के मन में (subjective) है। जब वह यह देखता है कि उसके मन के मुताबिक वास्तव में (objective) पुल बनता चला जा रहा है तो उसका कर्म साधन-साध्य के अनुकूल होता है। अतः साधन-साध्य के अनुरूपी कर्म को तार्किक कर्म कहते हैं। तार्किक कर्म के दो पक्ष हैं : कर्त्ता (actor) के मन में बसी योजना और उस योजना के अनुरूप वास्तविक जगत में कार्य का सम्पन्न होना। आत्मप्रधानता (subjectivity) और वस्तुपरकता (objectivity) दोनों की अनुरूपता किसी कर्म के तर्कसंगत होने के लिए आवश्यक है, जिस कर्म में आत्मप्रधानता और वस्तुपरकता का अभाव होता है वह कर्म अतार्किक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कर्म तर्कहीन है। बल्कि इसका अर्थ यह है कि साधन और साध्य में तालमेल नहीं है। रेमाण्ड एरान (Regmond Aron) ने अतार्किक और तार्किक कर्म को एक तालिका द्वारा बताया है :

कर्म की साध्य-साध्य सम्बन्धी कोटियाँ—

कर्म का आत्मप्रधान पक्ष	नहीं है	नहीं है	है	है
कर्म का वस्तुपरक पक्ष	नहीं है	है	नहीं है	है

(अ) कर्म आत्मप्रधान योजना और वस्तुपरक रूप दोनों अनुरूप "नहीं है-नहीं है" अर्थात् कर्म तार्किक नहीं है। कार्य की कोई योजना कर्त्ता के मन में

नहीं है। वास्तविकता के स्तर पर साधन-साध्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह कर्म अतार्किक है।

(ब) दूसरी कर्म कोटि "नहीं-नहीं है" की है। यद्यपि साधन और साध्य में सम्बन्ध नहीं है मगर लगता है कि दोनों में सम्बन्ध है। जैसे पहाड़ से पत्थर फेंकने वाले जादुई कर्मकाण्ड से वर्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन अगर उसी समय वर्षा हो जाय, तो दोनों का भ्रान्तिवश सम्बन्ध मान लेने वाले लोग हैं। मन में कार्य की योजना है (वर्षा की इच्छा) और वास्तविकता भी (वर्षा का होना) है। लेकिन, साधन-साध्य (जादू-वर्षा) में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि मन में जादू-वर्षा का सम्बन्ध बना हुआ है।

(स) तीसरी कोटि "है-नहीं है" की है। वास्तविकरूप से परिणाम निकल आया मगर कर्त्ता के मन में उसकी कोई योजना नहीं होती है। सहज क्रियाएँ (reflex actions) इसी प्रकार होते हैं। जैसे, पतंगे के निकट आते ही पलकों का आप-ही-आप बन्द हो जाना। मूलप्रवृत्तियों से प्रेरित होकर पशु जान बचाने के जो बहुत सारे कार्य करते हैं, वे इसी कोटि में आते हैं। इस प्रकार का कर्म उपयुक्त है, मगर तार्किक नहीं है।

(द) चौथी कोटि "हाँ-हाँ" की है और अतार्किक कर्म ही है। प्रश्न उठता है, पारेटो इस कोटि के अन्तर्गत किस प्रकार के कर्मों को रखना चाहता है। सम्भवतः पारेटो इस कोटि के अन्तर्गत समाज-सुधारकों, क्रान्तिकारियों और मानवतावादियों के स्वप्नचिन्तन (utopia) और उनके कर्म के वास्तविक परिणामों को ध्यान में रखता है। ऐसे लोग संसार की बुराइयों को दूर करके आदर्श-स्थिति लाना चाहते हैं। पारेटो का कहना है कि आदर्श स्थिति लाने के लिये जिन साधनों का प्रयोग वे करते हैं, वे साधन उनकी योजना के अनुकूल नहीं होते। क्रान्तिकारी हिंसात्मक साधन अपनाते हैं और क्रान्ति की सफलता के बाद निरंकुश शासन स्थापित करते हैं। ऐसे साधन उनके स्वप्नचिन्तन की आदर्श व्यवस्था के अनुकूल नहीं होते हैं। अतः ऐसे कर्म भी अतार्किक होते हैं।[1]

तार्किक और तर्कसंगत-प्रयोगमूलक विधि

पारेटो के सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु मनुष्य की तर्कन क्षमता (reasoning) है। तर्कन न करने से अतार्किक कर्म और तर्कन करने से तार्किक कर्म होते हैं।

---

1. Rymond Aron, Main Currents in Sociolgical Thought, Vol. 2, Cox & Wyman Ltd., London, 1976, pp. 111-123, *passim.*

दूसरे शब्दों में, कर्म की अभिप्रेरणा (motivation) अगर मनोभाव (sentiments) है तो कर्म अतार्किक होगा। अभिप्रेरणा अगर तर्कन है तो कर्म तार्किक होगा।

तार्किक कर्म वह है जो वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित हो। पारेटो के तर्कसंगत-प्रयोगमूलक विधि (logico-experimental method) से प्राप्त ज्ञान वैज्ञानिक एकरूपताओं (uniformities) को दर्शाता है। तर्कसंगत का अर्थ पारेटो के अनुसार तथ्यों के सम्बन्ध का अनुमान करना है और प्रयोगमूलक (experimental) का अर्थ है अवलोकन (observation) या यथार्थ का होना। यथार्थ के अवलोकन पर आधारित तर्कसंगत ज्ञान, वैज्ञानिक है। तर्कसंगत -प्रयोगमूलक विधि का उद्देश्य घटनाओं में सम्बन्धों की एकरूपता स्थापित करना है। घटनाओं के सम्बन्धों में अनिवार्य सम्बन्ध (necessary relation) का पता लगाना नहीं बल्कि मात्र एकरूपता (uniformities) का निकालना ही विज्ञान की सीमा है।

कर्त्ता के मन की साधन-साध्य की अनुरूपता जब वस्तुगत साधन-साध्य से होती है तो उसका कर्म तार्किक होता है। यह समानान्तरवादी (parallelism) स्थिति है। कर्म के परिणाम को जान कर ही इस समानान्तरवादी स्थिति को समझा जा सकता है।

अतार्किक कर्म का तार्किक अध्ययन (Logical Study of Non-logical Action)

अतार्किक कर्म का तार्किक अध्ययन करना पारेटो का उद्देश्य है। पारेटो के अनुसार, विज्ञान लक्ष्य परिभाषित नहीं कर सकता। विज्ञान व्यक्ति या सामाजिक संगठन की समस्याओं का उपचार नहीं बता सकता है। विज्ञान का मात्र एक उद्देश्य है, तथ्यों पर आधारित सामान्य निष्कर्ष निकालना। इस दृष्टि से पारेटो के समाजविज्ञान के मुख्य उद्देश्य दो रह जाते हैं। पहला, यह बताना कि कैसे मनुष्य अपने अतार्किक कर्मों पर तर्कसंगत होने का आवरण डालता है। दूसरा, यह बताना कि मनुष्य के व्यवहार किस प्रकार अतार्किक होते हैं।

पारेटो की पुस्तक ट्रीटीज आन जनरल सोशिओलॉजी (Treatise of General Sociology) के अनुसार अतार्किक कर्म की तीन पक्ष होते हैं।

(अ) कर्त्ता की मानसिक दशा (sentiment)
(ब) कर्म (action)

(स) कर्त्ता द्वारा अभिव्यक्ति (expression)

अतार्किक कर्म के तीन पक्ष हैं : कर्म अभिव्यक्ति और पन्थ (creed) या सिद्धान्त । पन्थ और सिद्धान्तों से अतार्किक कर्म का औचित्य ठहराया जाता है। मनुष्य जन्म से तर्कने वाला प्राणी है, इसलिये, कभी यह स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होता कि कर्म भावनाओं पर आधारित होते हैं। वह अपने कर्मों का तार्किक औचित्य ठहराने का प्रयास करता है। इसी आधार पर पारेटो **अवशेष** (residues) और **औचित्य-समर्थन** (derivations) की रचना करता है।

अवशेष (Residues)

अवशेष मन की दशा न सही, मगर मन के निकट अवश्य होते हैं। पारेटो ने कर्मकाण्ड, मनौती, शगुन, कुत वस्तुओं का भाग्यशील होना, कुत का दुर्भाग्य-पूर्ण होना आदि का अध्ययन किया है और इस नतीजे पर पहुँचा है कि मनुष्य की स्थायी प्रवृत्ति ही अतर्कपूर्ण तथ्यों पर विश्वास करने वाली है। अतर्कपूर्ण घटना के दो पक्ष हैं :

(1) स्थायी प्रवृत्ति (constantelement) जिसे पारेटो अवशेष (residue) की अवधारणा से व्यक्त करता है।

(2) परिवर्तनशील प्रवृत्ति (variable element) वह तर्कन प्रवृत्ति है जो अतार्किक कर्मों के औचित्य को, तरह-तरह से ठहराती रहती है। पारेटो इसे औचित्य-समर्थन (derivations) की अवधारणा से व्यक्त करता है।

पारेटो के सिद्धान्त की दो प्रमुख अवधारणाएँ अवशेष और औचित्य-समर्थन हैं। लगता तो है दोनों ही अवधारणाएँ एक जैसी हैं लेकिन पारेटो उनमें अन्तर स्थापित करता है :

(अ) अवशेष मनोभाव नहीं है। मानसिक दशा और प्रत्यक्ष व्यवहार की आन्तरिक (intermediary) कोटि अवशेष है।

(ब) अवशेष मूल प्रवृत्तियों के समान है, लेकिन मूल प्रवृत्ति नहीं है।

अवशेष मनुष्य के व्यवहारों के मूलतत्त्व के रूप हैं। इन्हें जानकर सामाजिक व्यवहारों की व्याख्या की जा सकती है। पारेटो ने अवशेषों को छः कोटियों में विभाजित किया है :

(1) संयोजन की मूल प्रवृत्ति (Instinct for Combination)

(2) समूह-स्थिरता या समुच्चय की अटलता (Group-persistence or Persistence of Aggregates)

(3) बाहरी कार्यों द्वारा मनोभाव के प्रकाशन की आवश्यकता (Activity, self-expression)

(4) सामाजिकता से जुड़े हुए अवशेष (Residues connected with sociability)

(5) अपने प्रति और अपने साज-सामान (सहायकारी पदार्थ, सम्पत्ति आदि) के प्रति व्यक्ति की सत्य निष्ठा (Integrity of the Individual and his Appurtenances)

(6) यौन सम्बन्धी अवशेष (The Sex Residue)

अवशेष क्या है ? अवशेष मानवीय स्वभाव का मूलाधार है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अवशेष ही मानव स्वभाव है। समाज की विवेचना करने में अवशेषों की समझदारी अनिवार्य है। पारेटो अवशेषों को मनोविज्ञान के लिये नहीं बल्कि समाजविज्ञान के लिये आवश्यक समझता है। मानवीय व्यवहार की व्याख्या करने में अवशेष अवधारणाओं (analytical concepts) के रूप में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। पारेटो ने प्रत्येक अवशेष-वर्ग की उपकोटियाँ भी निर्धारित किया है।

(1) संयोजन की मूलप्रवृत्ति (Instinct of Combination)

पारेटो का कहना है कि "वस्तुओं को आपस में जोड़ने" की प्रबल प्रवृत्ति मानव स्वभाव का अंग है। कुछ वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से जोड़ना, उन्हें सजाना और उन्हें बार-बार सजाते रहना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति (मूल प्रवृत्ति) है। पारेटो का कथन है कि सभ्यता के विकास में मनुष्य को इस संयोजन प्रवृत्ति का विशेष योगदान रहा है, और आज भी है। संयोजन की क्षमता के कारण सामाजिक संतुलन बनता है। नई बातों की खोज होती है। संयोजन में मनुष्य का अटूट विश्वास है। मनुष्य में संयोजन करने की भूख है। तर्कपद्धति का विकास संयोजन से हुआ है। अपने अतार्किक कर्म पर परदा मनुष्य संयोजन द्वारा ही डालता है। संयोजन की मूल प्रवृत्ति की उपकोटियाँ निम्नलिखित हैं :

संयोजन की मूलप्रवृत्ति की उपकोटियाँ

(1) सामान्य (जातिगत वर्गगत) संयोजन (generic combinations)

(2) समान या विपरीत का संयोजन

(अ) वर्गगत समानता या विपरीतता

(ब) असामान्य वस्तुएँ या घटनाएँ

(स) विस्मित या डराने वाली वस्तुएँ या घटनाएँ

(द) आनन्दित करने वाली दशाओं एवं वस्तुओं को शुभ और दुःख देने वाली दशाओं एवं वस्तुओं को अशुभ समझना।

(य) आत्मसात करना : भौतिक वस्तुओं का इस विश्वास के साथ उपभोग करना कि भौतिक वस्तु के गुण आत्मसात् हो जायेंगे।

(3) कुछ वस्तुओं की रहस्यात्मक क्रिया या उनका रहस्यमय प्रभाव।

(4) अवशेषों को आपस में मिलाने की आवश्यकता।

(5) तार्किक विकास या तर्कशक्ति का विकास।

(6) संयोजन की प्रभाविता पर आस्था।

संयोजन की मूल प्रवृत्ति के कारण मनुष्य वस्तुओं और घटनाओं को सजाता और मिलाता है। यह काम हमेशा तर्कसंगत ही नहीं होता बल्कि मनुष्य मूर्खतापूर्ण संयोजन भी खूब करता है। पारेटो का कहना है कि मूर्खतापूर्ण नितान्त अनर्गल या अर्थहीन होने से भी संयोजन का महत्व नहीं घटता। लोग इस तरह के संयोजन पर विश्वास करते और अमल भी करते हैं। कुछ होटलों में 13 नम्बर का कमरा नहीं होता है। इस नम्बर का संयोजन अशुभ परिणामों से है। इस तरह के उदाहरणों की कमी नहीं है। मनुष्य की झूठी भावुकता पर पारेटो ने करारी चोट (debunking) किया है।

(2) समूह-स्थिरता (Groud-Persistence)

अवशेषों का दूसरा वर्ग, पारेटो के अनुसार, किसी विधान को स्थायी करने की प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। मानव स्वभाव है कि वह किसी भी संयोजन, सम्बन्ध, विश्वास यहाँ तक कि "समाज" और "मानवता" को भी स्थायी बनाना चाहता है। किसी भी सामुच्चय को मनुष्य अटल करना चाहता है और केवल परिवर्तन की उतनी ही मात्रा को स्वीकार करता है, जिससे वह संयोजन या सामुच्चय बिगड़ने न पाये। पारेटो का तर्क है कि पहले वर्ग के अवशेष दूसरे वर्ग द्वारा स्थायी बनाये जाते हैं। इस तरह नये अवशेषों में पुराने अवशेषों की निरन्तरता बनी रहती है। वास्तव में दूसरे वर्ग के अवशेष निरन्तरता की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

समूह-स्थिरता और समुच्चय स्थिरता की उपकोटियाँ

(1) व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध और स्थानों से सम्बन्ध की स्थिरता।

(अ) परिवार और स्वजन सम्बन्धों की स्थिरता।

(ब) स्थानों से सम्बन्ध की स्थिरता।
(स) सामाजिक वर्गीय सम्बन्धों की स्थिरता।

(2) जीवित और मृत के सम्बन्धों की स्थिरता।
(3) मृत व्यक्ति के जीवनकाल से सम्बन्धित वस्तुओं से सम्बन्ध की स्थिरता।
(4) अमूर्त विचारों की स्थिरता।
(5) एकरूपता की स्थिरता।
(6) ऐसे मनोभाव जो वस्तुओं में परिणित हो गये हैं, उनकी स्थिरता।
(7) मानव गुणारोपण (निर्जीव वस्तुओं पर) की स्थिरता।
(8) नए आमूर्तीकरण की आवश्यकता।

इन अवशेषों के आधार पर पारेटो यह कहना चाहता है कि एक बार जो स्वरूप या आकार बन जाता है, मनुष्य उसे निरन्तर स्थिर रखना चाहता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह परस्पर विरोधी वस्तुओं को भी एकजुट करके स्थिरता प्रदान करना चाहता है। जो मिट चुका है उसे भी जीवित रखना चाहता है। इस वर्ग के अवशेष मनुष्य की जड़ता, अचलता और गतिहीनता (inertia) की प्रवृत्ति के सूचक हैं।

(3) बाहरी कार्यों द्वारा मनोभाव का प्रकाशन (Activity, Self-expression)

अवशेषों का तीसरा वर्ग "कार्यकारिता की आवश्यकता" से सम्बन्धित है। कार्यकारिता में संवेग, मनोभाव और वासनाओं का मिला-जुला स्वरूप होता है। इसकी उपकोटियाँ निम्नलिखित हैं :

(क) "कुछ करने" की आवश्यकता
(ख) धार्मिक भावतरंग

अपनी सत्ता, पद, प्रतिष्ठा को जताने के लिए मनुष्य कुछ करता है। वह निष्क्रियता से बाहर आना चाहता है। अवशेषों के इस वर्ग में धार्मिक उन्माद और आत्मविभोर होकर किये जाने वाले कार्य भी आते हैं।

(4) सामाजिकता से जुड़े हुए अवशेष (Residues connected with sociality)

इस वर्ग के अवशेषों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन और अनुशासन से है। पारेटो के अनुसार ये "सामाजिक नियन्त्रण के अवशेष" हैं। इनकी उपकोटियाँ निम्नलिखित हैं :

(अ) समाज विशेष (Particular societies)।
(ब) एकरूपता की आवश्यकता।

(1) स्वेच्छापूर्वक सामाजिक नियमों का पालन करना।

(2) दूसरों को नियमानुसार आचरण करने के लिये बाध्य करना।

(3) नवभय, नवांतक या नवघृणा (neophobia)।

(स) दया, करुण और क्रूरता।

(1) आत्मकरुण (self-pity) का दूसरों तक विस्तार।

(2) दुःखभोग से दूर भागने की इच्छा मूलप्रवृत्ति के समान।

(3) निरर्थक दुःखभोग से सोच-समझकर दूर भागने की प्रवृत्ति।

(द) दूसरों की भलाई के लिये आत्मत्याग।

(1) अपने जीवन को खतरे में डालना।

(2) दूसरों के साथ मिलकर अपनी सम्पत्ति का भोग करना।

(य) सामाजिक श्रेणी या श्रेणीक्रम के प्रति मनोभाव।

(1) श्रेष्ठता का भाव।

(2) लघुता का भाव।

(3) समूह का समर्थन प्राप्त करना।

(र) तपस्या, संयम, साधना, वैराग्य।

सम्मिति और सहयोग की प्रवृत्ति से इन अवशेषों का सम्बन्ध है। इनके माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण भी होता है। नवीनता, फैशन, विरोध और गड़बड़ी उत्पन्न करना भी इन्हीं अवशेषों का कार्य है। पारेटो ने यह भी लिखा है कि जीवन के एक क्षेत्र में नवभयभीत होने के कारण व्यक्ति जीवन के अन्य क्षेत्रों में (जैसे धर्म, राजनीति) नई दिशाओं की खोज करता है। सामाजिकता के अवशेषों से व्यक्ति सहयोग, असहयोग, आत्मत्याग, श्रेष्ठता, लघुता ऐसी धारणाओं का निर्माण करता है। सामाजिकता के विकृत रूप की भी पारेटो ने कल्पना किया है।

(५) अपने प्रति और अपने साज-सामान (सम्पत्ति) के प्रति व्यक्ति की सत्यनिष्ठा (Integrity of the Individual and his Appurtenances)

"जो वस्तुएँ मेरी हैं उनकी रक्षा करना और उनकी मात्रा बढ़ाना" इन अवशेषों का कार्य है। इन अवशेषों से 'हितों' की रक्षा होती है। व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्ति अपनी पहचान (indentity) बनाता है और सामाजिक प्रस्थिति (social status) अर्जित करता है। इन अवशेषों की निम्नलिखित उपकोटियाँ हैं :

(1) अश्रेष्ठ लोग समान होते हैं।

(2) अरक्षा को हटा कर पुनः सुरक्षा की स्थिति प्राप्त करना।

(3) अरक्षा उत्पन्न करने वाले अपराधियों (वास्तविक या काल्पनिक) को ठिकाने लगाना ।

व्यक्ति की सुरक्षा (पहचान) तभी बनी रह सकती है जबतक यथा स्थिति बनी रहे। जब यथास्थिति बिगड़ती है तभी लोग अरक्षित होते हैं। पारेटो ने अरक्षा और उसके परिणामों को इन्हीं अवशेषों के अन्तर्गत रखा है।

(६) यौन सम्बन्धी अवशेष (The Sex Residues)

पारेटो ने यौनभाव को कामुकता के रूप में नहीं लिया है, बल्कि यह बताना चाहा है कि यौनभाव से "सिद्धान्त और चिन्तन के स्वरूप" किस प्रकार प्रभावित होते हैं। यौनभाव से प्रेरित होकर लोग पवित्रता की कल्पना करते हैं। यौन व्यवहार सम्बन्धी निषेध, धर्म में लिंग सिद्धान्तवाद और पूजा, देवदासी प्रथा, अप्सरा आदि की अवधारणाएँ यौनभाव के अवशेषों से जुड़ी हुई हैं। पारेटो ने पते की बात यह कही है कि यौनभाव सम्बन्धी अवशेष सभी अवशेषों को प्रभावित करते हैं।

अवशेषों की विवेचना (Interpretation of Residues)

अवशेष मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दशाओं का चित्रण करते हैं और अस्पष्ट हैं। अत्यन्त सरलीकृत हैं। मनोभाव को तथ्य के रूप में प्रदर्शित करते हैं। पहले और दूसरे वर्ग के अवशेष बुनियादी हैं। उदारवाद और रूढ़िवाद के छोरों में बँधे हुए हैं। जो लोग पहले वर्ग के अवशेषों से प्रभावित होते हैं वे नवीनताप्रेमी होते हैं। पारेटो इन्हें साहसी (enterpreneurs) कहता है। संयोजन के माध्यम से, ऐसे लोग तरह-तरह की नई बातें निकालते और नया कार्य करते हैं। जोखिम उठाते हैं। दूसरे वर्ग से प्रभावित होने वाले लगान-उपजीवी (rentiers) होतें हैं, संचित धन को बनाये रखना चाहते हैं। डरपोक होते हैं और हर नई बात पर अविश्वास करते हैं।

अवशेष वर्ग दो, तीन और चार मिलकर 'स्वतन्त्रता-नियन्त्रण' को कल्पना करते हैं। पाँचवें वर्ग के अवशेष बताते हैं कि लोग अपनी सुरक्षा के लिये किस प्रकार अतार्किक कार्य करते हैं। इन अवशेषों का सम्बन्ध धन और शक्ति से है, छठाँ अवशेष सम्पूर्ण चिन्तन को प्रभावित करता है।

प्रश्न यह उठता है कि पारेटो ने अवशेषों का वर्गीकरण क्यों प्रस्तावित किया है? पारेटो ने सामाजिक जीवन के अवलोकन से मनुष्य के स्वभाव का अनुमान लगाया है और मानवीय स्वभाव की व्याख्या करने के लिये अवशेष की रचना किया है। ये अवशेष अपरिवर्तनीय हैं। हर समाज में और सम्पूर्ण मानव इतिहास में, ये प्रगट होते रहे हैं। इनसे पारेटो के निराशावादी एवं प्रगति-

विरोधी चिन्तन का पता चलता है। पारेटो का अटल सिद्धान्त है कि न अवशेष कभी बदलते हैं, न मनुष्य। पारेटो की मूल परिकल्पना यही है कि मनुष्य कभी बखूबी परिवर्तित नहीं हुआ। कुछ भी हो, पारेटो मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार को बेनकाब (debunking) करने में सफल है। समाज के बनावटीपन को उधेड़ना, समाजवैज्ञानिक का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

औचित्य-समर्थन (Derivations)

पारेटो का उद्देश्य है अतर्क पर तर्क की विजय। संवेग और मनोभाव पर विवेक का अधिकार, इसलिए, मानव-स्वभाव एवं व्यवहार में जो कुछ अतार्किक है, उसकी विवेचना पारेटो ने किया है। पारेटो मानता है कि अधिकांश मानवीय व्यवहार अतार्किक होते हैं। मुँह से राम-राम जपना और बगल में छुरी रखना अतार्किक है। मन में कुछ, और प्रकट व्यवहार कुछ, अतार्किक कर्म है। पारेटो के अनुसार जब आत्मपरकता और वस्तुपरकता में तालमेल नहीं होता तो कर्म अतार्किक होता है। जब आत्मपरकता और वस्तुपरकता में तालमेल होता है तो वह कर्म तार्किक होता है। पारेटो ने साध्य-साधन की अवधारणा से तार्किक और अतार्किक कर्मों की विवेचना किया है। अतार्किक कर्म में साध्य-साधन में तालमेल नहीं होता। तार्किक कर्म में साध्य-साधन में तालमेल होता है।

पारेटो की धारणा है कि जैसा ज्ञान होगा वैसा ही आचरण होगा। अतार्किक ज्ञान पर आधारित आचरण (non-logical conduct) होगा, और तार्किक ज्ञान पर आधारित तार्किक आचरण (logical conduct) होगा। अतार्किक आचरण एकाएक भी हो जाता है। ऐसा भी होता है कि शक्तिशाली लोग तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर अपने अतार्किक कर्मों का औचित्य निकाल ही लेते हैं, प्रायः आर्थिक कार्य तार्किक होते हैं और अपनी रुचियों के अनुसार किये गये कार्य अतार्किक होते हैं।

अतार्किक कर्मों के सन्दर्भ में आवश्यक हो जाता है यह जानना कि अतार्किक ज्ञान होता क्या है, पारेटो के अनुसार औचित्य-समर्थन से कपट-ज्ञान (pseudo-knowledge) प्राप्त होता है। अतार्किक कर्मों को उचित ठहराने के लिये जो तर्क दिये जाते हैं, उन्हें औचित्य-समर्थन कहते हैं। हर समाज और संस्कृति में औचित्य-समर्थन पाये जाते हैं और लोगों की आस्था का स्रोत होते हैं। धर्म, राजनीति, नैतिकता, कानून सभी क्षेत्रों में औचित्य-समर्थन व्याप्त होते हैं। उनका कार्य सच्चाई पर परदा डालना होता है। संवेग और मनोभाव (अविवेकपूर्ण) के अधीन किये गये कार्यों को तर्कयुक्त ठहराना औचित्य समर्थन का उद्देश्य होता है। पारेटो ने इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है : निश्चय कथन

(assertions), सत्ता (authority), मनोभाव के अनुरूप होना या सिद्धान्तों के अनुरूप होना (accord with sentiments or principles) शाब्दिक प्रमाण (verbal proof)।

औचित्य-समर्थन का वर्गीकरण

वर्ग 1 : निश्चय कथन (Assertions)

(अ) तथ्य, परीक्षण का काल्पनिक निश्चय कथन
(ब) मनोभाव का निश्चय कथन
(स) तथ्य और मनोभाव के मिश्रित रूप का निश्चय कथन

वर्ग 2 : सत्ता (Authority)

(अ) व्यक्ति या व्यक्तियों की सत्ता
(ब) रीति-रिवाज, परम्परा की सत्ता
(स) ईश्वरीय सत्ता

वर्ग 3 : मनोभाव या सिद्धान्त की अनुरूपता (Accord with sentiments or principles)

(अ) मनोभाव के अनुरूप
(ब) व्यक्ति के हित के अनुरूप
(स) सामूहिक हित के अनुरूप
(द) कानून के अनुरूप
(य) तत्वदार्शनिक तथ्यों के अनुरूप
(र) आदिभौतिक तथ्यों के अनुरूप

वर्ग ४ : शाब्दिक प्रमाण (Verbal proofs)

(अ) ऐसे पद (terms) जिनसे वास्तविक वस्तु स्पष्ट न हो या ऐसी वस्तुएँ जिनके लिये सुनिश्चित पद न हो।
(ब) आकस्मिक मनोभाव को प्रदर्शित करते हुए पद या ऐसे पद जिनसे आकस्मिक मनोभावों का बोध होता हो।
(स) एक ही पद के कई अर्थ हों।
(द) रूपकालंकार, रूपक, सादृश्य।
(य) ऐसे अस्पष्ट और अनिश्चित पद जिनसे कुछ भी वास्तविक न समझा जा सके।

पारेटो के अनुसार औचित्य-समर्थन ऐसी आत्मप्रधान अवस्थाएँ हैं जिनके अधीन होकर लोग औचित्य को स्वीकार करते हैं। अतः औचित्य स्वीकारना

इनका मुख्य उद्देश्य है । पहले वर्ग के औचित्य-समर्थन केवल इस तरह औचित्य स्वीकार कराते हैं कि "तुम्हें इस आदेश का पालन करना ही होगा ।" दूसरे वर्ग के अवशेष इस प्रकार के स्वीकार्य पर बल देते हुए मात्र इतना जोड़ देते हैं कि "तुम्हें इस आदेश का पालन इसलिये करना है कि अमुक सत्ताधारी (माँ-बाप, गुरु, राज्य) ऐसा कहता है ।" इसके अन्तर्गत परम्परा और रीतियाँ सम्मिलित हैं । तीसरे वर्ग के अवशेष सामूहिक हित के नाम पर औचित्य-समर्थन चाहते हैं । चौथे वर्ग के औचित्य-समर्थन चिन्तन प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं । पारेटो के अनुसार तार्किक और विवेकपूण होने के बजाय, तार्किक एवं विवेकपूर्ण होने का मात्र भ्रम उत्पन्न करना कारगर होता है । राजनीति में ऐसे औचित्य-समर्थनों की भरमार होती है । क्रांतिकारियों के व्यवहारों के अध्ययन से पारेटो हमेशा कतराता रहा । क्रांतिकारी समाज की परम्पराओं को बदलने के लिये संघर्ष करते रहे हैं । पारेटो के अनुसार क्रांतिकारी भी क्रान्ति के बाद अपने अवशेषों को लेकर स्वार्थपूर्ण समाज की रचना करते हैं ।

समाज शक्ति की व्यवस्था (Society as a System of Power)

समाज शक्ति की व्यवस्था है । आर्थिक और राजनैतिक प्रक्रियाओं के साथ, समाज राजनैतिक व्यवस्था भी है । शक्ति के द्वारा विकल्पों के चयन की समस्या सुलझती है । जिसके पास शक्ति है वह "शेर का हिस्सा" प्राप्त कर लेता है । पारेटो का कथन है शक्तियों के संघर्ष में उचित अनुचित पर ध्यान नहीं दिया जाता, जो शक्ति में अधिक है वह दूसरों को दबा देता है । "युद्ध की लूट और दावत का सबसे अच्छा भाग "शक्तिशाली को मिलता है । पारेटो का विचार है कि यह नियम सा प्रतीत होता है कि शक्तिशाली अपनी गद्दी सुरक्षित रखना चाहता है और निजी हित में लाभ उठाना चाहता है । आज के युग में, पारेटो का विचार है, संघर्ष का कारण आर्थिक होता है । जनतन्त्र भी एक प्रकार का सामन्तवाद है । संवैधानिक कानून भी इसीलिये होते हैं कि दूसरों को स्वतन्त्रता कैसे छीनी जाय और आमदनी के सुअवसर कैसे प्राप्त किये जायँ ।

पारेटो सम्भावितजनवादी (elitist) था । अतः उसने शासन वर्ग (ruling class) का सिद्धान्त बताया है । उसके अनुसार, "आज तक का अधिकांश इतिहास शासक वर्ग का इत्तिहास है ।" समाज में दो वर्ग होते हैं । एक शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग के सिद्धान्त की तीन बातें महत्वपूर्ण हैं ।

(1) समाज वर्गों में विभाजित है ।

(2) समाज पर शासन, शासक वर्ग करता है ।

(3) शासक वर्ग में परिवर्तन होता है।

समाज में शासक वर्ग (governing elite) और शासित वर्ग (non-governing elite) होता है। केवल कुछ ही लोग शासन करते हैं। केवल स्वरूप में अन्तर होता है, वरना हर समाज का शासकवर्ग निरंकुश होता है। शासक वर्ग "शक्ति का खेल" खेलता रहता है। इस खेल की विशेषता है हेर-फेर और चालाकी। शासक वर्ग के विषय में पारेटो ने बड़ी चुभती हुई बातें कही हैं। पारेटो की यह स्थापना सत्य है कि समाज की आधारशिला शक्ति और शोषण पर रखी गई है।

सम्भावितजनों के परिवर्तन का चक्रीय सिद्धान्त (Circulation of Elites)

पारेटो का कथन है "इसलिये कुलीनतन्त्र का कब्रिस्तान (history is a graveyard of aristocraices) है। अर्थात् एक शासक वर्ग को मिटाकर, दूसरा वर्ग शासक करता है, और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। प्रश्न उठता है, शासक वर्ग (सम्भावितजन) का अस्तित्व इतना अस्थायी क्यों होता है ? पारेटो ने इसके तीन प्रमुख कारण बताये हैं :

(1) अधिकांश शासक वर्ग फौजी होते हैं और युद्ध में लड़-मर कर समाप्त हो जाते हैं।

(2) कुछ पीढ़ियों के बाद उनकी शक्ति (हिंसा व बर्बरता) क्षीण होने लगती है, जो शासक वर्ग प्रजा के प्रति दयाभाव का उदारता दिखाते हैं, वे विद्रोह द्वारा उलट दिये जाते हैं।

(3) शासक वर्ग जो सुख-सुविधाएँ भोगता है, उसके कारण इस वर्ग में फूट पड़ जाती है।

अतः क्या किया जाय कि इनका स्थायित्व बना रहे ? पारेटो ने दो तरकीबें बतायी हैं। पहली, शासक वर्ग में जो सम्मिलित होने के दावेदार या उम्मीदवार हैं, उनका सफाया। दूसरी, उनको शासक वर्ग में सम्मिलित कर लेना। इतिहास में दोनों तरकीबें अपनायी गयी हैं। पारेटो का विचार है कि शासक वर्ग को प्रथम वर्ग के अवशेषों को अपनाना चाहिये और शासित लोगों को दूसरे, चौथे और पाँचवें वर्ग के अवशेषों को अपनाना चाहिये। जब प्रथम वर्ग के अवशेष शासक वर्ग में बढ़ जाते हैं तो वह अहंकारी हो जाता है, और यहीं से संघर्ष की बुनियाद पड़ती है। शासक वर्ग नई परिस्थितियों के प्रति जागरूक नहीं रह जाता है। नियोजित रूप से कार्य करने की अकल खो बैठता है।

राजनैतिक स्तर पर, संघर्ष की रूप-रेखा पारेटो ने "लोमड़ियों" और "शेरों" की अवधारणा से प्रेषित किया है। लोमड़िया चालाकी से शेरों को

परास्त कर देती हैं। आर्थिक क्षेत्र में दो वर्ग होते हैं। सट्टेबाजों के या सटोरियों (speculators) के, और स्टॉकधारियों (stock holders) के। सटोरिये अपनी चालाकी और साहस से धन कमाते हैं, जबकि स्टॉकधारी धन को संचित रखना चाहते हैं। अत: आवश्यक है कि समय-समय पर स्टॉकधारियों का धन उनसे ले लिया जाय। अगर उनको बदलना न जायगा तो समस्त समाज का धन स्टॉकधारिये संचित करके बैठ जायेंगे। अत: वर्गों का परिवर्तन चक्र चलता रहना चाहिये।

पारेटो के सामाजिक विचारों की समालोचना :

पारेटो यह प्रमाणित करना चाहता है कि भावना पर विवेक की सफलता कितनी कठिन है। पारेटो वास्तव में तर्कयुक्त व्यवहार के पक्ष में हैं, मगर अतार्किकता का या मनोसंवेगों का बहाव इतना तेज है कि तर्कयुक्तता के कदम टिक ही नहीं पाते। पारेटो ने मनुष्य के स्वार्थपूर्ण और अतार्किक व्यवहारों की विवेचना सविस्तार किया है। समाजवैज्ञानिक का एक कार्य यह भी है कि वह वास्तविकता पर पड़े परदे को हटा दे। पारेटो इस कार्य में इतना अधिक सफल रहा है कि उसे सनकी कहा जाता है।

पारेटो का अध्ययन करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि आखिर पारेटो का उद्देश्य क्या है? मात्र बौद्धिक मजाक उड़ाना या कुछ और। कुछ आलोचक ऐसा मानते हैं कि सनक, मजाक और व्यंग्य के अलावा पारेटो का कोई उद्देश्य नहीं था। हमारा विचार है कि समाज के वर्गीय चरित्र और शासक वर्ग की भूमिका की आलोचना करने में पारेटो अत्यन्त गम्भीर चिन्तन का परिचय देता है। यह मजाक नहीं है। पारेटो ने गलती नहीं किया है जहाँ वह मानवीय स्वभाव के स्थायी तत्त्व की स्थापना करता है। अवशेषों द्वारा पारेटो ज्ञान की संरचना (structure of knowledge) बनाने में तो सफल है। मगर मनोभाव और स्वार्थ को अवशेषों में मिलाकर, पारेटो ने दो पृथक् क्षेत्रों को मिलाने की अनावश्यक भूल की है। औचित्य-समर्थन और भ्रामक चेतना (false consciousness) का पक्ष सत्य के निकट है। पारेटो की बौद्धिक चमक-दमक में कोई कमी नहीं है। पारेटो सामाजिक आलोचना का प्रवर्तक है।

उन्नीसवीं सदी के विवेकवादी मानते थे कि मनुष्य का व्यवहार विवेकपूर्ण हो सकता है। पारेटो ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि विवेकवादियों की यह आस्था एक भ्रम है। व्यक्तिगत हित के आगे, मनुष्य सामूहिक हित को ठुकरा देता है। सामूहिक हित और वैयक्तिक हित में सामंजस्य सम्भव नहीं है। पारेटो का यह मत एकांगी है। पारेटो तो यहाँ तक कहता है कि तत्काल

सामूहिक हित को स्वीकारने वाला, आगे चलकर, निजी हित का ही विचार रखता है। समाज अतार्किक व्यवहारों पर टिका हुआ है। पारेटो की सनक यहाँ प्रत्यक्ष है। सभी मनुष्य स्वार्थी हैं। समाज के विषय में विचार इस तरह करना, कुछ इसी तरह का विचार है कि "सभी मनुष्य मरणशील हैं।" तो क्या समाज की गतिविधियाँ ठप कर दी जायँ, क्योंकि "सभी मनुष्य मरणशील या स्वार्थी हैं ?" पारेटो खुद तार्किक दोष का शिकार है। उसने अपनी बुद्धि का दुरुपयोग किया है।

पारेटो खेलने को हारना मानता है। वह समाज रूपी खेल से हार कर मैदान के बाहर बैठ गया और खेल की आलोचना करता रहा। वह मनुष्य और समाज का निर्दोषीकरण (perfection) चाहता है जो कि सम्भव नहीं है। असम्भावना को आधार मानकर सामाजिक चिन्तन करना ही तार्किक दोष है और बुद्धि का दुरुपयोग है। ऐसे चिन्तन का अन्तिम बिन्दु मानवद्रोह या अन्धकार है। पारेटो इस दोष से बच न सका। मगर इस दिशा में उसने सशक्त स्थापनाएँ की हैं।

समाज का लक्ष्य क्या होना चाहिये, पारेटो इस विषय में मौन है। पारेटो के विचारों से कोई राजनैतिक निष्कर्ष नहीं निकल सकता। जनतान्त्रिक संस्थाएँ बेकार हैं और हर तरह के शासक अल्पतन्त्र में बदल जाते हैं।

वैज्ञानिक सत्य और सामाजिक उपयोगिता में पारेटो विरोध मानता है। जो कुछ सामाजिक रूप से उपयोगी है, उसका वैज्ञानिक रूप से सत्य आवश्यक नहीं है। अवैज्ञानिक सत्य और अतार्किक सत्य से अगर समाज संगठित रहता है तो वैज्ञानिक सत्य की क्या आवश्यकता है। पारेटो विज्ञान विरोधी और बुद्धि विरोधी भी है।

पारेटो ने किसी को नहीं छोड़ा। सबकी आलोचना पारेटो ने की है। असभ्य और सभ्य लोग, तानाशाह और जनतान्त्रिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक, हर एक पारेटो की आलोचना का शिकार है। पारेटो का यह प्रयास सफल रहा है कि मनुष्य का प्रगट व्यवहार, उसकी अप्रगट अभिप्रेरणाओं से भिन्न है। समाज का मूलाधार शक्ति है, जहाँ शक्ति है, वहाँ असमानता है, और जहाँ असमानता है वहाँ शोषण होगा ही। क्या ऐसे समाज की रचना नहीं हो सकती, जहाँ असमानता के भौतिक आधार नष्ट हो जायँ ? पारेटो का उत्तर नकारात्मक है। यहीं उसके विचारों की सजीवता का रहस्य है। पारेटो के विचारों में सामाजिक चिरसत्य का अंश भी है। प्रगति का वैज्ञानिकपन पारेटो के मानसिक अधिकार से बाहर था।

Bibliography

Pareto, The Mind and Society, Harcourt, Brace & Co., New York, 1935.

The Ruling Class in Italy before 1900, New York, 1950.

Bosquet, The Works of Vilfredo Paret, Hanover, Sociological Press, 1928.

Finer, ed., Vilfredo Pareto, Sociological Writings, Praeger, New York, 1966.

Henderson, Pareto's General Sociology, Harward University Press, Cambridge, 1937.

Homans & Curtis, An Introduction to Pareto, New York, 1934.

Parsons, Nilfredo Pareto, Encyclopaedia of Social Sciences, 1933.

Parsons, The Structure of Social Action, New York, 1937.

सामाजिक जगत का घटना विज्ञान : अल्फर्ड शूज

समाजवैज्ञानिकों को प्रतिदिन के अनुभव पर ध्यान देना चाहिये। प्रतिदिन की दुनिया बनती है—लोगों द्वारा अर्थबोध का सृजन करने से। अर्थबोध आत्मपरक है। आत्मपरक अर्थबोध को विज्ञान कैसे बनाया जाय, अल्फर्ड शूज ने इसी समस्या को उठाया है।

—अर्थबोध किस प्रकार व्यक्ति के मन का अंश होता है ?

—अर्थबोध किस प्रकार बाहरी जगत की वस्तु बन जाता है ? और सभी लोग उसका समान अर्थ लगाते हैं, जैसे, भाषा, टोटम, संस्कार आदि। अर्थबोध का अगर वस्तुपरक स्वरूप न हो तो मानव समाज व संस्कृति सम्भव नहीं। अर्थ-बोध का स्वरूप ऐसा भी होता है कि उसे हम भी उसी अर्थ में समझते हैं, जिसमें आप समझते हैं। "आग से घर जल रहा है"—इस घटना का समान अर्थ बोध हर एक के मन में सन्देश के रूप में पहुँच जायेगा।

सामाजिक यथार्थ के चार अङ्ग

वास्तविक जगत को अगर अमूर्त कर दिया जाय तो अनुभव की सतह पर चार तार्किक स्तर या परिमण्डल मिलेंगे :

1. सामाजिक यथार्थ की सीधी अनुभूति
2. सामाजिक यथार्थ की अप्रत्यक्ष अनुभूति
3. उत्तराधिकारियों की अनुभूति
4. पूर्वाधिकारियों की अनुभूति

पहले दो अंग दिक् से सम्बन्धित हैं। शेष दो काल से सम्बन्धित हैं। अनुभूति आमने-सामने की है या दूसरे की। तीसरी अनुभूति भविष्य में आने वाले व्यक्तियों के बारे में होगी, और चौथी अतीत की विरासत है। सामाजिक दुनिया इन्हीं चार परिमण्डलीय क्षेत्रों में विभाजित करके समझी जा सकती है। चारों परिमण्डल व्यक्तियों की अनुभूति से सम्बन्धित हैं क्योंकि सामाजिक दुनिया दिक्-काल में आबद्ध है। सामाजिक क्रिया का वास्तविक स्रोत व्यक्ति की चेतना है। क्रिया मानसिक प्रक्रिया है। आमने-सामने के सम्पर्क में तो पता चलता है कि मेरे मन में क्या है, और दूसरे के मन में क्या है, लेकिन जो लोग

दूर हैं या अनजाने लोग हैं, उनके मन में क्या है, इसका ज्ञान सामान्य आत्मानुभूति से होता है। इसे प्रारूपीकरण (टिपीफिकेशन) कहते हैं।

सांस्कृतिक अर्थबोध हमसे बाहर है। एक संस्कृति के सभी लोग उसे समझते हैं। सामान्य रूप से समझे जाने वाले सांस्कृतिक आकार "टाइप" होते हैं। वे दोहराये जा सकते हैं, जैसे, आदरसूचक प्रणाम करना। भारतीय संस्कृति में यह वास्तव टाइप है, इसे बार-बार दोहराया जा सकता है। वास्तव में प्रारूपीकरण संस्कृति की थाती है। सामाजिक ज्ञान का भण्डार है।

जीवन-जगत

व्यक्ति के अनुभव, ज्ञान और आचरण "टिपीफिकेशन" पर निभर होते हैं। बाहरी दुनिया के प्रति हमारा दृष्टिकोण टिपीफिकेशन से बनता है। हुसर्ल ने इसे प्राकृतिक-दृष्टिकोण कहा है। चेतना के गहरे स्तर पर अर्थबोध का सृजन होता है और अर्थ-बोध का बाहरी रूप ही टिपीफिकेशन होता है। अर्थबोध के दो स्तर हैं : चेतना के स्तर पर अर्थबोध और चेतना से बाहर प्रतिरूपित अर्थबोध। चेतना से बाहर की दुनिया प्रतिदिन की दुनिया है। प्रतिदिन की दुनिया में तीन प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

क्षमताओं का ज्ञान—चलने-फिरने, खाने-पीने की क्षमता आप ही आप व्यक्ति में आ जाती है। ऐसे ज्ञान को सीखने में कोई समस्या नहीं उठती है।

उपयोगी ज्ञान—किसी समस्या के समाधान का ज्ञान। जैसे, मोटरकार चलाना या पियानो बजाना।

उपायों/तरकीबों का ज्ञान—कुछ परिस्थितियों का मुक़ाबिला या उनसे समायोजन स्थापित करने के लिए उपाय लगाना होता है। कुछ तरकीबें पहले से स्टैण्डर्ड होती हैं और आवश्यकतानुसार नई-नई तरकीबें भी निकाली जाती हैं।

अभिप्रेरण—कार्य करने की अभिप्रेरणायें दो प्रकार की होती हैं :

ऐसी अभिप्रेरणा जिसमें "कारण" छुपा हो। कोई काम "इसलिए करना" है कि इसका अमुक परिणाम होगा। यह अभिप्रेरणा भविष्योन्मुखी होती है। कुछ घटनायें पहले घट चुकी होती हैं इसलिए वर्तमान में कोई काम आवश्यक होता है। यह काम इसलिए करते हैं क्योंकि ऐसा-ऐसा हो चुका है।

सामाजिक क्रिया

दूसरों को ध्यान में रखकर जो कार्य किया जाता है, वह सामाजिक क्रिया है। जब परिस्थिति समस्यापूर्ण हो जाती है तो कर्ता को विकल्पों में चुनाव करना पड़ता है। कर्ता नई तरकीबें और नए विकल्प की खोज करता है। जिन लोगों के जीवन को हम भली-भाँति जानते हैं, उससे हमारे गहन सम्बन्ध होते

हैं। जिनके बारे में हमारी जानकारी कम होती है, उनसे परायेपन के सम्बन्ध होते हैं।

अभिप्राय की अवधारणा

घटना विज्ञान में चेतना को 'क्रिया' मानते हैं। क्रिया का कोई अभिप्राय होता है। अभिप्रेरित होना चेतना का मूल गुण है। चेतना निष्क्रिय नहीं होती। चेतना हमेशा किसी वस्तु की चेतना होती है। चेतना की दिशा होती है। अनुभूति, संवेदनशीलता, मूल्यांकन और इच्छा करते रहना, चेतना का कार्य है। चेतना के अभिप्राययुक्त होने से उसमें दो गुण आ जाते हैं :

—पूर्ववर्ती दशाओं को धारण करती है।
—आने वाली दशाओं की ओर झुकाव रखती है।

दार्शनिक स्तर पर यह भी मानते हैं कि चेतना तर्कातीत या तर्क से भी परे होकर, शुद्ध सत्ता के रूप में टिकी रह सकती है। घटना-विज्ञान मूर्तकल्पी विज्ञान है। वास्तविक यथार्थ से नहीं बल्कि यथार्थ का जो आकार चेतना में बनता है, उसका विज्ञान है। यह भी प्रत्यक्षीकरण का एक रूप है। वास्तविक जगत का चेतना में जो अर्थबोध उत्पन्न होता है, वह शुद्ध सत्ता होता है।

सामाजिक यथार्थ के स्तर

सांस्कृतिक तथ्य या आकार, दबाव के रूप में कर्ता को प्रभावित करते हैं। इस दबाव को लेखक शूज़ झुकाव कहता है। उन्मेष चार स्तरों पर होते हैं :

—संस्कृति की ओर झुकाव
—सामाजिक सम्बन्धों की ओर झुकाव
—अपने स्व की ओर झुकाव
—भौतिक पदार्थों की ओर झुकाव

इन चारों उन्मेषों का सीधा अर्थ है कि व्यक्ति सामाजिक वस्तुओं की ओर झुकने पर विवश होता है।

समालोचना

व्यक्ति की चेतना को प्रधानता देने वाले सिद्धान्त केवल दो बातें बताते हैं। पहला, व्यक्ति की चेतना में अर्थबोध कैसे बनते हैं। उन अर्थबोधों से हम बाहरी जगत् को कैसे समझते हैं। दूसरा, चेतना ही सब कुछ नहीं है, बाहरी जगत भी है, और चेतना से पृथक है। बाहरी जगत की गतिविधियों के विषय में इन सिद्धान्तों में या तो कुछ है ही नहीं या बहुत थोड़ा है। कुछ भी स्थिर एवं संरचित नहीं है। संस्कृति मानवीय अर्थबोधों की रचना है। अर्थबोध बदले तो सब कुछ बदल जायेगा।

शूज़ का टिपीफिकेशन मैक्स वेबर के आदर्श प्रारूप के समान है। कुछ लोग वर्गीकरण करने को ही सिद्धान्त मान लेते हैं। घटना-विज्ञान यथार्थ को वर्गों में बाँटने का विज्ञान है। मेरी डगलस नामक मानवशास्त्री ने भी वर्गीकरण का प्रयोग करके अर्थबोध और संस्कृति की विवेचना की है। डगलस ने सफाई-गन्दगी के अर्थबोध पर वस्तुओं को वर्गों में विभाजित किया है। जूते को खाने की मेज पर रख दिया जाय तो वह गन्दगी बन जाता है। स्थान परिवर्तन से भी वस्तुएँ साफ या गन्दी हो जाती हैं।

सामाजिक यथार्थ क्या है ? कैसे बनता है ? इसकी व्याख्या घटना-विज्ञान में मिलती है। अवधारणाओं की स्पष्ट झलक मिलती है। लेकिन समाज का विस्तृत ज्ञान नहीं मिलता।

●

लेवीस्ट्रास : संरचनावाद

आकार और संरचनावाद

मानवीय कार्यों के आकार तो हो सकते हैं मगर सारे आकार संरचना नहीं होते। अन्धेरे में रस्सी को साँप देखना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना या भीड़-भाड़ वाली सड़क पर बायें चलना, मानवीय व्यवहारों के आकार हैं। रेडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार "नियमित सम्बन्ध" या सम्बन्धों का जुड़ा होना, सामाजिक संरचना है। बहुत दिनों तक समाजविज्ञान की शब्द रूपावली में "संरचना" पद का प्रयोग रेडक्लिफ़-ब्राउन की अवधारणा के मुताबिक होता रहा। लेवी-स्ट्रास की "संरचना" की अवधारणा से समाजविज्ञान के सोचने-समझने के तरीके में परिवर्तन आया है। लेवीस्ट्रास बीजगणित की तर्क-पद्धति से प्रभावित था। बीजगणित "ग्रुप", "सेट" और चिह्न होते हैं। चिह्नों के कारण (+, −, ÷, × आदि) प्रश्न को हल करने की प्रक्रिया चालू होती है। चिह्नों के अर्थ के अनुसार जोड़ने-घटाने, गुणा-भाग करने की प्रक्रिया एक चरण से दूसरे, और दूसरे से तीसरे या अन्य चरणों तक होती रहती है। बीजगणित समुच्चय (सेट) क्रमविनिमेयता और सहचारिता के गुणों से युक्त होते हैं। समुच्चय अपने प्रतीकों के अर्थ बोध को संचरित करते हुए स्वरूपान्तरित व सरलीकृत हो जाते हैं।

प्रश्न उठता है सेट में गति या सेट का रूपान्तरण कैसे हुआ? उत्तर यह है कि सेट के रूपान्तरण की प्रक्रिया सेट ही में निहित है। चिह्नों के परिचालन के द्वारा सेट आत्म-नियमित होता और अपने आपको रूपांतरित करता रहता है। इस प्रकार (सेट की तरह) सामाजिक संरचना में दो गुण होते हैं :

—आत्म-नियमित होना

—रूपान्तरित होना

जब तक ये दोनों गुण नहीं होंगे, कोई आकार संरचना नहीं कहा जा सकता। संरचना सम्पूर्ण रूपान्तरण की व्यवस्था है। इकाइयों या तत्वों का जोड़ सामुच्य नहीं है। सामुच्य इकाइयों से भिन्न होता है। यह विचार गेस्टाल्ट मनोविज्ञान से लिया गया है। सैकड़ों लोगों की तितर-बितर भीड़ और उन्हीं लोगों की सजी-सजाई क़तारों में भिन्नता होगी। यह भिन्नता इकाई (तत्त्व)

और सामुच्य की भिन्नता है। संरचना का तीसरा गुण उसका सामुच्य है। संरचना की अवधारणा के केन्द्रीय विचार यही तीन हैं :

दुनिया जैसी है, वैसी है। मगर इसे देखने व समझने के तरीके बदला करते हैं। कभी यह दुनिया देवी-देवताओं की खुशी-नाखुशी का नाटक समझी जाती थी। कभी इसे मनुष्य के मूल स्वभाव (प्रेम या संघर्ष) का फल माना गया था। श्रम, टेक्नालॉजी, पूँजी और नफा-नुक़सान की दृष्टि से भी संसार को समझा गया है। अचेतन मन और अतृप्त वासनाओं का परिणाम मानव-समाज को माना गया है। कुछ इतिहासकारों ने मानव-जगत को वसन्त व पतझड़ के बदलते ऋतुचक्र के रूप में देखा है। राम-रावण, खुदा-व-शैतान के संघर्ष के रूप में संसार को आज भी लोग देखते हैं। दुनिया क्या है ? किसी को नहीं मालूम। बस, अपना-अपना नजरिया या दृष्टि प्रारूप है। लेवीस्ट्रास का संरचनावाद भी एक नज़रिया है, और उसकी संरचना, मात्र तर्क विधि से बनी हुई संरचना है। मनुष्य के मस्तिष्क की प्रवृत्ति है। स्वयं अनुभव से परे है मगर अनुभव की व्याख्या का मानसिक साँचा है। साँचे बदलते नहीं हैं। मानसिक संरचनायें अपरिवर्तनीय हैं। साँचे में भरी जाने वाली सामग्री बदलती है, साँचा नहीं। मानवविज्ञान की एक प्रवृत्ति ऐसी भी है जो मानव-समाज के अपरिवर्तनीय अटल यथार्थ की खोज में लगी है। बदलते रहने वाले तथ्यों पर विज्ञान की रचना सम्भव नहीं है। संरचनावाद इसी प्रवृत्ति का पोषक है। लुई ड्यूमा के अनुसार जाति में निहित पवित्र-अपवित्र के बोध (संरचना) का बदलना कठिन है। जाति-व्यवस्था के संगठन व प्रकार्यों में परिवर्तन होता रहेगा। घटनाओं का वास्तविक यथार्थ "संरचना" है। दुनिया को देखने-परखने का दृष्टि प्रारूप है।

लेवीस्ट्रास : संरचनात्मक मानवविज्ञान

लेवी स्ट्रास ने सामाजिक यथार्थ के दो स्तर बताये हैं। एक स्तर ऊपरी है और दूसरा गहराई का स्तर है। अभी तक मानव वैज्ञानिकों ने ऊपरी स्तर की संरचना की व्याख्या की है। संस्थाओं और व्यवहारों का अध्ययन करके संरचनाओं की खोज की है। गहराई के स्तर की खोज करना, प्रतीकात्मक अर्थबोध की संरचनाओं की खोज करना है। यह कार्य लेवीस्ट्रास ने अपने हाथ में लिया है। व्यवहारों और सामाजिक प्रतिमानों को अगर निचोड़ कर सरल किया जाय तो अर्थबोध की ऐसी संरचनायें मिलेंगी जो समस्त मानव-जाति की संरचना मानी जा सकती है। ऐसी सार्वलौकिक संरचनाओं की खोज अगर आदिमानव में की जाय तो मानव संस्कृति की आधार शिलायें मिल

जायगी। शायद यह पता चलेगा कि विचारों की विधा आधुनिक मानव की भी वही है जो आदिमानव की थी। अन्तर मात्र इतना है कि विचार की विषय-वस्तु बदल गयी है। आदिमानव हथियार, आग, और शिकार के बारे में जिस विधा से सोचता था, हम भी प्रबन्ध, उत्पादन और नफा के बारे में उन्हीं संरचनाओं द्वारा सोचते हैं। अतः लेवीस्ट्रास का संरचनावाद मानसिक प्रक्रिया है जो समस्त मानव जाति और संस्कृति में सार्वलौकिक है। मानव जाति का सम्पूर्ण प्रारूप एक समान है। सभी प्रकार की क्रम व्यवस्थायें सम्पूर्ण प्रारूप का अंग हैं। स्वजन-सम्बन्ध व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था एक ही प्रकार की संरचनात्मक व्यवस्था का अंग है।

लेवीस्ट्रास का संरचनावाद बहुत कुछ भाषा वैज्ञानिक विधा से मिलता-जुलता है। भाषा वास्तव में अर्थबोध के सम्प्रेषण का माध्यम है। मनुष्य ऐसा प्राणी है जो अर्थबोध का सृजन करता है और वस्तुओं पर अर्थबोध प्रक्षेपण भी करता है। अर्थबोध मानव के माध्यम से, सृजन और प्रक्षेपण व्याकरण के नियमों के अनुसार होता है। व्याकरण के नियम वह "संरचना" है जो बोली और वाक्य रचना में अन्तर्निहित है। इसी तरह सामाजिक व्यवहारों के पीछे संरचनायें होती हैं। वाक्यों की रचना (रूपान्तरण) करने वाले नियमों के समान ही सामाजिक व्यवहार को रूपान्तरित करने वाली संरचनायें होती हैं।

सरल भाषा में कहा जाय तो अर्थ बोध का प्रक्षेपण, संरचना है, और मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है। व्याकरण के नियम जिस तरह शब्दों को वाक्यों में रूपान्तरित करते चले जाते हैं, उसी तरह संरचना से व्यवहार, फिर व्यवहार, और फिर व्यवहार होते चले जाते हैं। समाज मानसिक संरचनाओं का परिणाम है। मगर यह संरचनायें गहरे स्तर पर होती हैं इसलिए दिखाई नहीं पड़तीं। अचेतन मन के स्तर पर जैसे अतृप्त वासनायें और इच्छायें पड़ी रहती हैं, उसी तरह चेतना की गहराई में संरचनायें होती हैं।

लेवीस्ट्रास यह मानता है कि मनुष्य का मस्तिष्क रचनामूलक कार्य का यन्त्र सा है। संरचना सृजन मस्तिष्क का स्वाभाविक गुण है। भाषा, मिथक और स्वजन सम्बन्ध मानसिक संरचनायें हैं, और गहराई के स्तर पर हैं। इन संरचनाओं के अनुसार जो व्यवहार (बोली, कहानी, विवाह) होते हैं, वे ऊपरी स्तर के व्यवहार को बतलाते हैं।

	मस्तिष्क की स्वाभाविक संरचना-सृजन क्षमता		
	↑	↑	↑
	भाषा संरचना	मिथक संरचना	स्वजन सम्बन्ध संरचना
गहराई का स्तर			
ऊपरी स्तर	↓	↓	↓
	बोली	उपदेश	विवाह, परिवार, सम्बन्धों के पैट्रन

ऊपरी स्तर के सामाजिक व्यवहारों की व्याख्या करने के लिए लेवीस्ट्रास ने संरचनात्मक ध्वनि विज्ञान के नियम द्विविभाजन का उपयोग किया है। दिन-रात, अँधेरा-उजाला, मौत-जिन्दगी द्विवर्गाश्रित विभाजन हैं। इन जोड़ों में से किसी एक का अर्थ दूसरे के बिना नहीं समझा जा सकता। "अन्धेरे" के बिना "उजाले" का कोई बोध नहीं हो सकता। वस्तुओं और घटनाओं का अर्थ बोध तभी निकलता है जब उनकी तुलना उनसे बिल्कुल विपरीत वस्तु या घटना से की जाती है। जिन्दगी का अर्थ तभी निकलता है जब जिन्दगी की तुलना "मौत" से की जाती है। वस्तुओं का द्विविभाजन मानसिक संरचना है।

स्वजन सम्बन्ध

मानव-अस्तित्व का बोध तभी होता है जब कुछ मानव 'पुरुष' हैं और, कुछ 'स्त्री'। जब दोनों आकर्षित हुए होंगे तभी प्रथम 'सामाजिक संबन्ध' उत्पन्न हुआ होगा। स्वर्ग में 'आदम' और 'ईव' की कहानी तो यही बताती है। लेवीस्ट्रास ने शायद समाज की आधार-शिला इसी पौराणिक गाथा पर रखी है और संरचनावादी द्विवर्गाश्रित विभाजन में निहित अर्थबोध का सहारा लिया है। लिंग भेद और विनिमय से समाज प्रारम्भ हुआ है। स्त्रियों का विभाजन दो कोटियों में किया गया। वे स्त्रियाँ जो 'बहन' के समान हैं और उनसे काम-सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरी कोटि की स्त्रियाँ 'पत्नी' समान हैं और उनसे काम-सम्बन्ध हो सकता है। बहन देकर बदले में पत्नी प्राप्त की जा सकती है। कौटुम्बिक व्यभिचार निषेध था।

लेवीस्ट्रास का कहना है कि स्त्रियों के विनिमय से ही 'संस्कृति' प्रारम्भ हुई। स्त्रियों का विनिमय ही हर प्रकार के विनिमय का प्रारूप बना। इस विनिमय से आदि मानव ने प्रतीकात्मक चिन्तन करना भी प्रारम्भ किया।

—मनुष्य ने नियम को, नियम के रूप में, समझना सीख लिया।

—'स्व' को 'दूसरों' से जोड़ना समझ गया।

—सम्बन्धों की पारस्परिकता समझ में आ गयी।

—'उपहार' का अर्थ समझने लगा। उपहार देकर सहयोगी बनाये जा सकते हैं, यह भी जान गया।

विनिमय से व्यवस्था उत्पन्न हुई। मनुष्य ने व्यवस्था के विचार को प्रधानता दी। विवाह और कौटुम्बिक व्यभिचार-निषेध से स्वजन सम्बन्ध और संस्कृति प्रारम्भ हुई। प्रकृति-से-संस्कृति की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। अनियमित-से-नियमित संबन्धों की ओर प्रवृत्ति जागृत हुई।

मिथक

देवी-देवताओं से संबंधित पौराणिक गाथाओं को लोक-गाथा कहते हैं। रामायण, महाभारत लोकगाथा हैं। इनके नायक सांस्कृतिक-नायक होते हैं। वे देवता और मानव दोनों का मिश्रित रूप होते हैं। समुदाय की समस्याओं का नैतिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। उसके मिथक थीम (गाथा की घटनायें) और नायक का नैतिक आचरण नैतिक सन्देश या आचरण का प्रारूप बन जाता है। मिथक वास्तव में भाषा का स्वरूप है। प्रत्येक मिथक एक पेचीदा समस्या के समान होता है। अनेक विपरीत बातें होती हैं। एक तरफ़ हिंसा होगी, दूसरी तरफ़ कर्तव्य। नायक किसी तरह समस्याओं का नैतिक समाधान निकालता है। मिथक सामूहिक स्वप्न के समान होते हैं। जिस तरह स्वप्न दबी हुई इच्छाओं का नाटक होता है उसी तरह मिथक भी आन्तरिक प्रेरणा से संचालित होता है। लेवीस्ट्रास ने मिथकों से चार प्रकार के सम्बन्धों के पुंज निकाले हैं :

—रक्त सम्बन्धों को आवश्यकता से अधिक महत्व देना।

—रक्त सम्बन्धों को आवश्यकता से कम महत्व देना।

—दानव संहार।

—मानव की उत्पत्ति का आदिम मूल स्रोत।

आदिमानव के अचेतन मन में क्या दबा रहा होगा? इसका पता मिथक (सामूहिक स्वप्न) की व्याख्या करने से होता है। सामाजिक घटनाओं का विवेचन करने में विचारधारा का विशेष स्थान है। जादू, टोटमवाद, मिथक की व्याख्या इसी विचारधारा के अनुसार होती है।

●

अध्याय–16

अलथूज़र का संरचनावाद

लुइस अलथूज़र

सामाजिक जीवन 'स्थिर, सुक्रमित और पुनरावर्ती' है, सामाजिक जीवन का एक पक्ष ऐसा भी है जो सामाजिक तो है मगर मानव व्यक्ति से पृथक् है, जैसे दुर्खीम, मैक्सवेबर, पारेटो ने 'संगठन', "मूल्य", "संस्था" और "प्रकार्य" ऐसे पदों का प्रयोग किया है, वैसे ही कुछ समाजवैज्ञानिक 'संरचना' पद का प्रयोग करते हैं। लेवीस्ट्रास, अलथूजर, पोलांजा, लाकान, बार्केस और माइकेल फूका ऐसे विद्वानों ने अलग-अलग क्षेत्रों में संरचना का प्रयोग किया है। आर्थिक-मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भाषाविज्ञान, साहित्यिक समालोचना और विचारों के इतिहास में संरचनाओं की खोज की गयी है। अलथूजर ने कार्ल मार्क्स की महान् रचना 'दास कैपिटल' में छिपी हुई संरचनाओं की खोज की है। दास कैपिटल को अगर ध्यान से पढ़ा जाये तो उसमें संरचनायें निहित मिलेंगी। ज्ञान को प्राप्त करने की विधि ज्ञानमीमांसा के रूप में व्याप्त होगी। अलथूज़र ने मार्क्सवाद को नए तरीके से समझा है। अगर व्यक्ति होगा तो स्वेच्छावाद भी होगा। व्यक्ति अपनी इच्छा से, स्वतंत्र होकर, विकल्पों में चुनाव करेगा। मगर जिस विचारधारा में व्यक्ति से अलग संरचनायें होंगी, वहाँ व्यक्ति के स्वेच्छावाद के लिए बहुत कम स्थान होगा। अलथूज़र की विचारधारा पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसी संरचनायें देखती है जिनका सम्बन्ध व्यक्तियों से नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं अपनी रचनाओं से बने या बिगड़ेगी। संरचनाओं में आप-ही-आप टकराव उत्पन्न होगा।

अलथूज़र की रचना **फार मार्क्स** (1969) और **रीडिंग कैपिटल** (1970) में यह बताया गया है कि मार्क्स की पुस्तक **दास कैपिटल** में कुछ छिपा हुआ है जो बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रगट नहीं है। वास्तव में मार्क्स की परिपक्व रचनाओं में संरचनायें अप्रगट एवं सुप्त पड़ी हैं। ज्ञान प्राप्त करने की विधि के अनुसार देखा जाय तो मार्क्स के विचारों की कड़ी सन् 1845 में टूट जाती है। सन् 1845 तक का मार्क्स, युवा मार्क्स है। उसके विचार मानवतावादी अधिक और वैज्ञानिक कम थे। सन् 1845 के बाद की उसकी रचनायें, जिसमें **दास कैपिटल** भी शामिल है, वैज्ञानिक हैं। इसमें इतिहास के प्रति मोह भी कम है।

यह परिपक्व मार्क्स है। संरचनावादी दृष्टि से देखा जाय तो सामाजिक विरचना की वैज्ञानिक व्याख्या इस प्रकार की जायगी :

—समाज की अवधारणा सकलता के रूप में होनी चाहिए।

—इसकी प्रमुख विशेषताओं को परिभाषित करना चाहिए।

—इसे संरचना के रूप में समझकर तत्त्वों को आंकना चाहिए।

—सामाजिक विकास की व्याख्या इन्हीं तत्त्वों की घटत-बढ़त और जोड़-तोड़ से करनी चाहिए। इतिहास में छिपे कारण या अन्तर्निहित उद्देश्य से नहीं।

मार्क्स की **दास कैपिटल** वास्तव में पूँजीवाद की संरचना का विवरण है। पूँजीवाद सम्पूर्ण सामाजिक विरचना है और **दास कैपिटल** इस विरचना की समकालीन व्याख्या भी है। संरचनात्मक व्याख्या के लिये समस्या और कारण का होना आवश्यक है।

विचारों का महत्त्व यह है कि विचारों से अवधारणायें बनती हैं। अवधारणायें किसी विषयवस्तु पर लागू होती हैं मगर विचार जगत की रचना होने के कारण, अवधारणायें विषयवस्तु से पृथक् भी होती हैं। विचारों का क्या कारण है ? इस प्रश्न को उठाये बिना ही विचारों के उपयोग को समझा जा सकता है। विचारों के निम्नलिखित उपयोग हैं। विचारों से—

—समस्या का निर्धारण होता है।

—अवधारणाओं की रचना होती है।

—कार्यविधि और सिद्धान्त का निर्माण होता है।

ज्ञान दिया हुआ नहीं होता। हवा, पानी, बादल दिये हुए होते हैं। इस रूप में ज्ञान दिया हुआ नहीं होता। ज्ञान की रचना की जाती है। ज्ञान रचने के लिए समस्या का निरूपण करना होता है।

—क्या और क्यों जानना है ?

—किस प्रकार का ज्ञान प्रमाणित माना जायेगा जिससे समस्या का समाधान होगा।

—किन अवधारणाओं, विधियों और सिद्धान्तों का उपयोग करना होगा।

पूर्वोक्त का निर्धारण करना, 'प्राब्लेमेटिक' उठाना है। इसका समाधान 'ज्ञान की रचना' होगा। बिना प्राब्लेमेटिक के ज्ञान नहीं रचा जा सकता है। अलथूज़र मानता है कि विचार बन्धनमुक्त होते हैं। परिस्थितिबद्ध नहीं होते। मार्क्स भी विचारों को पूर्ण रूप से परिस्थितिबद्ध और वर्गबद्ध नहीं मानता है। विचार शून्य में नहीं होते। समस्या का उठाना ही यह प्रमाणित करता है कि

अस्तित्व है। जगत है, परिस्थितियाँ हैं। अलथूज़र यह कहना चाहता है कि विचार का प्रयोग किस प्रकार होता है। विचार अनुभव से परे नहीं होता। विचारों की संरचना के निम्नलिखित स्तर होते हैं :

1. ज्ञानमीमांसा

ज्ञान प्राप्त करने की विधि, किस प्रकार का ज्ञान और किस प्रकार की सामाजिक दुनिया रचनी है ?

2. दर्शन

दुनिया के देखने-समझने के सामान्य निष्कर्ष और जगत दृष्टि प्रारूप।

3. सिद्धान्त

तथ्य, घटना और वारदातों की याख्या के लिए बनायी गयी उप-कल्पनायें और उनका परीक्षण।

4. कार्यविधिकी

अनुसंधान में प्रयोग करने की विधियाँ, निष्कर्ष निकालने के तरीके और अनुसंधान के उपागम।

5. विवरण

अवलोकन का विवरण।

अलथूज़र का कहना है कि मार्क्स स्वयं अपनी परिपक्व रचनाओं की ज्ञान-मीमांसा से लगभग अपरिचित था। अलथूज़र का उद्देश्य इस 'अपरिचितता' की पूर्ति करना है। अतः अलथूज़र का प्रयास मार्क्सवादी ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत करना है। ज्ञान प्राप्त करने के प्रयास को अलथूज़र सैद्धान्तिक व्यवहार कहता है। सैद्धान्तिक व्यवहार में तीन प्रकार की सामान्यताएँ मिलती हैं :

प्रथम सामान्यता (भौतिक)

द्वितीय सामान्यता (विधियाँ)

तृतीय सामान्यता (सिद्धान्त व विज्ञान)

विज्ञान का उद्देश्य सही ज्ञान प्राप्त करना है। यह आवश्यक नहीं कि वैज्ञानिक ज्ञान भविष्योन्मुख ज्ञान भी हो। लेकिन उसे सही या परिशुद्ध अवश्य होना चाहिए। सामाजिक दुनिया के बारे में वस्तुपरक ज्ञान मिल सकता है। अलथूज़र ने एक विधि भी बतायी है। सामाजिक विरचना के तत्त्वों की व्याख्या अगर उपयुक्त अवधारणाओं से की जाय तो समाज के बारे में वस्तुपरक ज्ञान प्राप्त होगा। इस प्रकार का ज्ञान डिस्कोर्स होगा।

सामाजिक विरचना

ऐतिहासिक भौतिकवाद संरचना सिद्धान्त है और इसकी विषयवस्तु सामा-

जिक विरचना है। मार्क्स के लिए सामाजिक विरचना के दो पक्ष हैं: उत्पादन विधा और अधिरचना, जिसमें राज्य, क़ानून और वैचारिकी आदि हैं। अलथूज़र की सामाजिक विरचना की अवधारणा में सब कुछ (अर्थतन्त्र, राजनीति, वैचारिकी, सिद्धान्त) है। सामाजिक विरचना एक जटिल सामुच्य है। सामाजिक विरचना के तत्त्व निम्नलिखित हैं:

—कामगार या वस्तुओं का सीधा उत्पादन करने वाला अथवा श्रमशक्ति।

—उत्पादन के साधन अथवा वस्तुयें और उपकरण।

—जो श्रम नहीं करते अथवा श्रम के अतिरिक्त मूल्य के प्राप्त करने के अधिकारी बन जाते हैं।

—ये सभी तत्त्व दो तरह के सम्बन्धों से जुड़े होते हैं।

—सम्पत्ति से जुड़े हुए संसर्ग या उत्पादन से जुड़े हुए सम्बन्ध।

—वास्तविक या भौतिक रूप से उपयोग का अधिकार प्राप्त होने से उत्पन्न संसर्ग अथवा उत्पादन की शक्तियाँ।

अलथूज़र का कहना है कि प्रत्येक उत्पादन विधा के तत्त्व तो वही रहते हैं, केवल 'सम्बन्ध' बदल जाते हैं। जैसे, सामन्ती उत्पादन विधा में श्रम (तत्व) आधीन और गैर आर्थिक दबाव में रहता है। पूँजीवादी व्यवस्था में, श्रम मुक्त रहता है। मजदूरी देने वाले के हाथों श्रमिक श्रम बेचने या न बेचने के लिये स्वतन्त्र होता है। सामन्त की तरह उसे कोई उजाड़ नहीं देगा, खेत वापस नहीं लेगा, जोर दबाव नहीं डालेगा। सम्बन्धों के बदलने को उत्पादन विधा का परिवर्तन भी कहते हैं। इसमें इतिहास के नियम का योगदान नहीं होता है। तत्त्वों में सम्बन्ध बदलने से एक विरचना बदलकर दूसरी विरचना हो जाती है।

सामाजिक विरचना वास्तव में तीन तरह के व्यवहारों की सामाजिक क्रियात्मक रूप की एकता है:

1. **आर्थिक क्रियात्मकता**

उत्पादन के साधनों द्वारा प्रकृति को उपयोग की वस्तुओं में परिणित किया जाता है। यह कार्य मनुष्य के श्रम से होता है।

2. **वैचारिक क्रियात्मकता**

वैचारिक संघर्ष द्वारा लोगों के अनुभव और सम्बन्ध बदलते हैं।

3. **राजनैतिक क्रियात्मकता**

मौजूदा सामाजिक सम्बन्धों को संघर्ष द्वारा नये सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तित करना।

4. सैद्धान्तिक क्रियात्मकता

सैद्धान्तिक क्रियात्मकता अमूर्त श्रम है। मौजूदा अवधारणाओं, पैराडाइम और वैचारिक-संवाद को परिवर्तित करना।

अलथूज़र की थीसिस यह है कि श्रम प्रक्रिया द्वारा उपयोगी-मूल्य उत्पन्न किया जाता है और साधन-सम्पन्न लोग अतिरिक्त मूल्य पर अधिकार जमा लेते हैं। इस प्रकार की सामाजिक विरचना जीवित रहे, इसके लिये राजनीति और वैचारिकी का सहारा लेना होता है।

समकालीन कारणता और संरचनावाद

सामाजिक विरचना के अन्तर्गत कारण-कार्य का नियम लागू होता है। संरचनावादी कारणता का नियम निम्नलिखित सिद्धान्त पर आधारित है :

संरचना स्वयं अपने कार्य का कारण है और संरचना के कारण-कार्य समकालिक होते हैं। कारण पहले और कार्य बाद में हो, ऐसा नहीं होता।

—संरचना के विभिन्न तत्त्व भिन्न-भिन्न स्वभाव और प्रभाव के होते हैं। एक ही संरचना में कई प्रकार के निर्धारक कारण चालू रहते हैं।

—एक कारण से एक कार्य उत्पन्न हो, ऐसा नहीं होता। बल्कि हर तरह के कारण-कार्य एक दूसरे से गुथे हुए होते हैं। कारण-कार्य के परस्पर जोड़ और संगुम्फन को अतिनिर्धारण की अवधारणा से समझते हैं। कोई भी सामाजिक विरचना कारण-कार्यों का संघनित रूप होती है।

—अर्थतन्त्र ही अन्तिम निर्धारक है।

इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार कारण घटना से बाहर नहीं होता बल्कि संरचना के आन्तरिक गठन में कारण मौजूद होता है। कोई अन्य एजेन्सी कारण नहीं बनती है। कारण होने की ज़िम्मेदारी किसी सामाजिक वर्ग, टैक्नालॉजी या आदि भौतिक एजेन्सी पर नहीं रखी जा सकती। संरचना स्वयं अपना कारण है। इसलिये कारण की अवधारणा अलंकारिक है तथा मात्र 'प्रतिनिधित्व' है। इसका सीधा अर्थ यह है कि संरचना को 'संरचना के प्रतिनिधित्व' से ही समझा जा सकता है। प्रतिनिधित्व वास्तविक घटना है और हम इसका अवलोकन कर सकते हैं। विचार जगत् में हम चाहें तो घटनाओं की संरचना को सूत्रबद्ध कर सकते हैं। संरचना अनुपस्थित कारण का कार्य है।

अलथूज़र के संरचनावाद में व्यक्ति या मानवतावादी तत्त्वों की गुंजाइश नहीं है। अध्ययन की इकाई सामाजिक विरचना है, व्यक्ति नहीं। 'उत्पादन' ही केन्द्रीय अवधारणा है। 'उत्पादन' विधा कुछ इस तरह है कि एक नाटक तो है मगर इस नाटक का रचनाकार कोई नहीं है। उत्पादन विधा व्यक्तियों

के कार्यों पर निर्भर नहीं करती। इतिहास का विषय सामाजिक विरचनाएँ हैं, जिनमें अर्थतन्त्र, राजनीति और वैचारिकी सम्मिलित हैं। इतिहास तो संरचनाओं का विकास और रूपान्तरण है। ऐतिहासिक भौतिकवाद वास्तव में संरचनावादी सिद्धान्त है। यथार्थ वैयक्तिक स्तर पर नहीं बल्कि संरचनात्मक स्तर पर होता है।

सामाजिक वर्ग और वर्ग चेतना का अलथूजर के लिये महत्त्व नहीं है। वर्ग तो अर्थतन्त्र में विलीन हो गये हैं। राजनैतिक दलों और क्रान्तिकारी संगठनों में इनका स्थान 'राजनैतिक खण्ड' में साझेदार की हैसियत से हो सकता है, किन्तु अर्थतन्त्र में वर्ग निष्क्रिय अवस्था में घुल गये हैं।

अलथूजर ने यथार्थ के वस्तुपरक ज्ञान और यथार्थ के निजी अनुभव में अन्तर किया है। सामाजिक विरचना के यथार्थ में कोई क्रान्ति नहीं छिपी है। वर्ग संघर्ष या क्रान्ति वास्तव में स्वेच्छावादी निर्णय है। लोग वर्ग संघर्ष करने का इच्छा से निर्णय लेंगे तो होगा, अन्यथा नहीं। अधिरचना (वैचारिकी, कल्चर) का वर्गबद्ध होना, आवश्यक नहीं।

लेवीस्ट्रास और अलथूजर की तुलना

दोनों संरचनावादियों में मुख्य अन्तर तो अध्ययन क्षेत्र का है। लेवीस्ट्रास का कहना है कि पूँजीवादी औद्योगीकरण के कारण जनजातीय समुदाय मिट रहा है, इसलिए उनका अध्ययन कर लेना चाहिये। लेवीस्ट्रास उस तरह का अनुसंधान करने वाला मानव वैज्ञानिक नहीं है जैसा कि रैडक्लिफ़-ब्राउन या मालिनेवस्की थे। वह दूसरों के अध्ययन पर अधिक निर्भर रहा है। अलथूजर ने पूँजीवादी व्यवस्था की व्याख्या करने वाली मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपिटल' को अध्ययन का मजमून माना है। इतिहास में दोनों रुचि रखते हैं। इतिहास में लेवीस्ट्रास 'मानसिक संरचना' तक सीमित है और अलथूजर 'उत्पादन विधा' के विकास और रूपान्तरण की विवेचना करता है।

—लेवीस्ट्रास पूर्व-पूँजीवादी समाज का अध्ययन करता है जबकि अलथूजर नव-पूँजीवादी समाजों में रुचि लेता है।

—दोनों ही अनुभववाद के विरोधी हैं। ज्ञान अनुभव तक सीमित नहीं रहता है। ज्ञान का सृजन किया जाता है।

—दोनों ही कारण-कार्य की व्याख्या के स्थान पर संरचनावादी व्याख्या करते हैं।

—संरचनात्मक तत्त्वों के तरह-तरह के संयोजन से सामाजिक संगठन की उत्पत्ति मानते हैं।

—संरचना अनुभवात्मक नहीं होती। उसको विचारों से समझा या पकड़ा जा सकता है। शब्दों से तरह-तरह के वाक्यों की रचना होती है और वाक्यों में वाक्य-रचना के नियम व्याप्त होते हैं। यह नियम ही संरचना है।

सामाजिक विज्ञान में संरचनावाद का योगदान—

संरचनावाद संसार के देखने-समझने का दृष्टि प्रारूप है। संरचनायें सार्वलौकिक होती हैं इसलिये एक सामान्य मानव विज्ञान की संभावना है।

—संरचनावाद सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण का कठोर प्रयास है।

—सामाजिक संरचना को सामुच्य मानकर व्याख्या करने में स्तरों की अवधारणा का प्रयोग किया गया है। सामाजिक यथार्थ के कई स्तर हैं, और हर स्तर पर अनेक तत्त्व होते हैं।

—ऐतिहासिक उपागम का महत्त्व इतना ही है कि वह संरचनात्मक उपागम का पूरक है।

—संरचनावाद सिद्धान्त-का-सिद्धान्त है। संरचनावाद सिद्धान्त भी है और कार्यविधि भी।

REFERENCE

1. Levi Strauss, Structural Anthropology.
2. R. S. Mann, Anthropology and Sociological Theory.
3. Althusser and Baliber, Reading Capital.
4. Althusser, For Marx
5. Gluckmann, Mirium, Structuralist Analysis in Contemporary Social Thought.
6. Piaget, Jean. Structuralism

●

संकेत-सूची

●

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

समाजशास्त्र और समाजकार्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
समाजकार्य	प्रो. राजाराम शास्त्री	150.00
सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य	डॉ. पी.डी. मिश्र	150.00
औद्योगिक विवाद और उसका सुलझाव	डॉ. बालेश्वर पाण्डेय	115.00
भारत का समाजशास्त्र	प्रो. जयकान्त तिवारी	120.00
समाजकार्य : एक समग्र दृष्टि	डॉ. बालेश्वर पाण्डेय	470.00
असामान्य व्यवहार	डॉ. प्रयागदीप मिश्र डॉ. बीना मिश्र	235.00
समाजकार्य के क्षेत्र	गिरीश कुमार	210.00
बाल व्यवहार व्यतिक्रम	डॉ. श्याम बिहारी सिंह	50.00
भारत में सामूहिक सौदेबाजी	डॉ. बालेश्वर पाण्डेय	35.00
सामाजिक सामूहिक कार्य	डॉ. पी.डी. मिश्र	100.00
समाज और राजनीति का दार्शनिक अध्ययन	डॉ. ज्ञानंजय द्विवेदी	215.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

दूरभाष : 0522-2614470

ISBN : 978-93-82175-46-9

मूल्य : 90=00